प्रथम संस्करण : १९५५ ई०

पौने चार रुपया

मुद्रक : राम आसरे कक्कड़
हिंदी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

दृष्टिकोण

आज हम अपने राष्ट्र की जीवन-यात्रा के पथ पर एक महत्वपूर्ण स्थल तक आ पहुँचे है। हमारे सामने कुछ नवीन समस्याएँ उपस्थित हैं। आज हमें ऐसा लग रहा है कि हमारा भविष्य जो रूप ग्रहण करने जा रहा है, वह हमारे पूर्व परिचित आदर्शों से कुछ विलक्षण भी हो सकता है। आधुनिक युग की भौतिक उन्नति ने जहाँ कई बिछुड़े हुए देशों को अधिक आगे ला दिया है, वहाँ वह उन्नत देशों को सबके साथ पैर मिला कर चलने को भी बाध्य कर रही है। आज सभी को इस बात का भान होने लगा है कि पृथक्-पृथक् आदर्शों को अब हम कदाचित् ठीक उनके पूर्व रूपों में ही नहीं रख सकते। प्रत्येक बात जो कभी किसी जाति का समाज विशेष के मानदंडानुसार परख ली जाती थी, अब किसी 'सार्वभौम तुला' पर भी चढ़ने जा रही है। हमें इस प्रकार देखने का क्रमशः एक अभ्यास पड़ता जा रहा है और ऐसा प्रतीत होता है कि हमें कभी अपनी निधि के अमूल्य रत्नों को भी एक बार फिर से परखना होगा। हमें अपने चिर परिश्रम द्वारा अर्जित उपयोगी संबल को भी कम कर देना पड़ेगा और आगे के लिए केवल उसी को अपनाना होगा जो उसके अनुकूल हो। हमारी सभी बातें भावी मानव के आदर्शों का अनुसरण करेंगी और उस दशा में उनका मूल्य सदा के लिए ठहर भी सकता है।—लेखक

सूचना

श्री मद्भगवद्गीता की जगह श्री मद्भागवत (पृ० २ पर) छप गया है। इसी प्रकार मेंहीदास के स्थान पर मेंहदी दास (पृ० ८० पर) छपने की भूल हो गयी है। इन जैसी छोटी-मोटी अन्य भूलें भी चली गयी हैं। कृपया उन्हें सुधार लें।

अभी हाल में 'मानस' का एक अंगरेजी संस्करण, तीन खंडों में श्री एटकिंस द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हुआ है।

विषय-क्रम

१. भारतीय साहित्य में भक्तिधारा	...	१
२. भारतीय प्रेमाख्यानों की प्रवृत्तियाँ	...	१७
३. भारतीय सूफ़ियों का सांस्कृतिक योग	...	२५
४. भारतीय संतों का सांस्कृतिक योग	...	३३
५. हिंदी संत साहित्य	...	४६
६. संत साहित्य और जैन हिंदी कवि	...	५६
७. भोजपुरी के संत कवि	...	७४
८. संत कवियों की भोजपुरी रचनाएँ	...	८२
९. संत काव्य में वीर रस	...	९५
१०. संतों का निर्वैर धर्म	...	१०९
११. हरिजन और कबीर साहब	...	१२२
१२. गोस्वामी तुलसीदास : पुनर्मूल्यांकन	...	१२८
१३. सिख धर्म का सांस्कृतिक विकास	...	१३९
१४. 'गोविंद रामायण' की राम-कथा	...	१५०
१५. विदेशों में राम-कथा	...	१६४
१६. विदेशों में वैष्णवधर्म	...	१७८
१७ विदेशों में बौद्धधर्म	...	१८९

भारतीय साहित्य में भक्तिधारा

भारत की प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य पर भक्ति परंपरा की प्रवृत्ति का प्रभाव बहुत स्पष्ट और महत्वपूर्ण भी रहा है। विक्रम की संभवतः छठीं से लेकर उसकी पंद्रहवीं शताब्दी तक इस प्रवृत्ति का प्रवेश किसी न किसी रूप में यहाँ की प्रायः प्रत्येक ऐसी भाषा के साहित्य में हो चुका था। इसके द्वारा अनुप्राणित कवियो ने समय-समय पर उसे अपनी कई बहुमूल्य रचनाएँ भी भेंट कर दी थीं। इसी काल के अंतर्गत बहुत सी ऐसी भाषाओं में 'रामायण', 'महाभारत' एव 'भागवत' जैसे धार्मिक ग्रथों के रूपांतर प्रस्तुत किये गये थे तथा उनके विविध आख्याओं को विषय बना कर स्वतंत्र ग्रंथों की भी रचना की गई थी। इसके सिवाय यही समय उन भक्ति आंदोलनो का भी रहा जिनके प्रवर्त्तकों अथवा अनुयायियो के प्रचार-कार्य ने इस प्रवृत्ति को विशेष प्रभावशाली रूप दिया। इसके पीछे फिर लगभग दो-तीन सौ वर्षों तक इसका प्रचार क्रमशः और भी अधिक होता गया जिस कारण हमारी प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य मे निरंतर श्रीवृद्धि होती चली गई और वे समृद्धिशाली बन गये। यह एक मनोरंजक तथ्य है कि अधिकांश प्रादेशिक भाषाओं के सर्वश्रेष्ठ कवियो मे अनेक भक्तों की ही गणना विशेष रूप से की जाती है और उन्ही की प्रतिभा एवं काव्य कौशल के फलस्वरूप इनके इतिहास का कोई न कोई काल स्वर्णयुग कहलाकर भी प्रसिद्ध हुआ है। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी से फिर इस प्रवृत्ति में क्रमशः निर्बलता दीख पड़ने लगी जिसका परिणाम स्वभावतः उनके साहित्यों में भी लक्षित हुआ। इस प्रकार प्रादेशिक भाषाओ के साहित्य में पायी जाने वाली भक्ति परंपरा की प्रवृत्ति का इतिहास वस्तुतः स्वय उनके गौरव के भी विकास एवं ह्रास का इतिहास है और यह बात उनमे से लगभग सभी के संबंध मे एक समान में लागू कही जा सकती है।

यों तो भक्ति परंपरा के मूल स्त्रोत का अस्तित्व वैदिक साहित्य तक में ढूँढ़ा जाता है और किसी प्रारंभिक रूप का पता मोहनजोदड़ो आदि के भग्नावशेषों के भी आधार पर बतलाया जाता है किंतु इसमें संदेह नहीं कि इसका पहला स्पष्ट रूप हमें 'श्रीमद्भागवत' की ही पंक्तियों में दीख पड़ता है। यहाँ पर उपनिषत्-कालीन चिंतन-प्रधान उपासना सर्व प्रथम भक्ति के शुद्ध भाव-प्रधान रूप में परिणत होती जान पड़ती है और यहीं से इसका मस्तिष्क के साथ बना हुआ प्रारंभिक संबंध क्रमशः क्षीण होता हुआ अधिकाधिक हृदय के साथ जुड़ता चला जाता है। भक्ति के इस प्रकार विकसित हुए रूप के दर्शन हमें पहले पहल उन तमिळ रचनाओं में होते हैं जो पीछे अळियारों तथा आळवारों द्वारा निर्मित हुई और जो इस समय तक भी तमिळ साहित्य का एक प्रमुख अंग बन कर प्रसिद्ध है। ये भक्ति कवि अधिकतर निम्नश्रेणी के व्यक्ति थे और इनमें से अधिकांश अशिक्षित भी थे, किंतु इन्होंने ही भक्ति को सर्वप्रथम साधारण जनजीवन के भी स्तर तक ला दिया। भक्ति के द्वारा अनुप्राणित हो इन्होने अपने हृदय के सच्चे एव भावपूर्ण उद्गार प्रकट किये और उनके कारण ये अपने परवर्ती कवियों के लिए प्रथप्रदर्शक भी बन गये। अळियारों के इष्टदेव शिव थे और आळवारो के विष्णु अथवा राम एवं कृष्ण थे। किंतु इस प्रकार की विभिन्नताओं के होते हुए भी उनकी भक्ति साधना मे विशेष अंतर नहीं था। उनका लक्ष्य एक समान था, उनके भावो में अपूर्व सादृश्य था और उनकी भाषा एवं रचनाशैली भी प्रायः एक ही प्रकार की थी। उनकी इस लोक भाषा की रचनाओं ने सर्वसाधरण को प्रभावित किया और ये ही पीछे अन्य प्रादेशिक भाषाओं के लिये आदर्श बानियां सिद्ध हुई।

तमिळ प्रांत के इन भक्त कवियो में कालक्रमानुसार, सर्वप्रथम स्थान कारैक्काल अम्मैयार् को दिया जाता है। ये नारी भक्त थीं और शैव संप्रदाय की अनुगामिनी थीं तथा इन्होंने कैलाश पर अधिष्ठित अपने इष्टदेव भगवान् शिव का वर्णन बड़े भक्ति भाव के साथ किया है। किंतु उस प्रांत के सर्वश्रेष्ठ शैव भक्ति केवल चार माने जाते हैं जिनके नाम माणिक्क-

वाचकर, अप्पर, संबंदर और सुंदर हैं। इनमें से प्रथम की स्फुट कविताएँ 'तिरुवाचकम्' के नाम से संगृहीत हैं और शेष तीन को ऐसी रचनाओं का संग्रह 'तेवारम्' कहा जाता हैं। 'तिरुवाचकम्' भक्त माणिक्कवाचकर के गूढ़-तम हृदयोद्‌गारों का सुंदर संकलन है और उसकी रचना उस समय के प्रचलित लोकगीतों की सुबोध शैली में की गई है। इनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों का एक विशद् परिचय हमें इनके 'तिरुक्को वैयार' नामक उस प्रबंध-काव्य में भी मिलता है जहाँ इन्होंने शिव तत्व को प्रेमपात्री अथवा प्रेमिका तक का रूप दे डाला है, जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस पांचवीं-छठीं शताब्दी की एक प्राचीन तमिळ रचना के अंतर्गत इस प्रकार जीवात्मा का प्रेमी रूप में तथा परमात्मा का प्रेमपात्रीवत् प्रदर्शित किया जाना, निश्चय ही सूफी मत के प्रभाव का फल नहीं हो सकता। 'तेवारम्' के तीन कवियों में से अप्पर अपनी दास्यभाव की कविताओं के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं और ये 'मुद्राशैली' की रचनाओं के प्रवर्त्तक भी कहे जाते हैं जिसके अनुसार वर्ण्य विषय की चर्चा 'दशकों' में पूरी की जाती है और ग्यारहवीं कविताओं मे रचयिताओं की 'मुद्रा' पायी जाती है। संबंदर कवि एक स्वाभिमानी शिवभक्त हैं और ये अपने इष्टदेव को प्रकृति वर्णन के साथ स्मरण करने की विशेषता रखते हैं। सुंदर की उपलब्ध रचनाओं में उनके अपने भगवान् शिव के प्रति प्रकट किये गए सखाभाव का चित्रण अपूर्व काव्य कौशल के साथ किया गया मिलता है।

इसी प्रकार तमिळ प्रांत के बारह आळवार कवियो की रचनाओं का वृहत् सग्रह 'नाळियार प्रबंधम्' के नाम से प्रसिद्ध है। इन बारहों मे से प्रथम तीन के तीन 'शतक' मिलते हैं जिनमें इनके इष्टदेव विष्णु अथवा नारायण के प्रति भक्तिभाव प्रकट किया गया है। किंतु चौथे आळवार पेरियाळ्वार ने श्रीकृष्ण विषयक रचनाएँ भी की है जिनमें यशोदा के वात्सल्य भाव का चित्रण अत्यंत स्वाभाविक ढंग से किया गया है। पेरियाळ्वार की कविताओं में एक माता के प्रायः उन सभी हार्दिक उद्‌गारों का अंकन मिलता है जो दैनिक जीवन मे उपलभ्य हैं।

इन पेरियाळ्वार की ही पोष्य पुत्री आंडाल थी जिन्होंने अपने इष्टदेव के प्रति दांपत्यभाव से भरे पदों की रचना की है। इनकी भी गणना आळवारों में की जाती है और ये उनमे उसी प्रकार प्रसिद्ध हैं जिस प्रकार पीछे मीरांबाई राजस्थान अथवा उत्तरी भारत के कवियो में विख्यात हैं। आंडाल मीरांबाई अथवा शैव भक्तिन कारैक्काल अम्मैयार की भाँति, विवाहिता नहीं थी। वे क्वारी ही रह गईं और अपने को इष्टदेव की पत्नी मानकर उसके संबंध में शृंगाररस द्वारा ओतप्रोत पदों की रचना करती रहीं। इनकी रचनाओं के प्रत्येक वाक्य में माधुर्य पाया जाता है। इन वैष्णव भक्तों में सबसे अधिक प्रसिद्ध नम्माळ्वार हैं जिनकी कविता में भावों के सौंदर्य एवं गांभीर्य दोनों एक समान मिलते हैं। इनकी भक्ति में हृदय एवं मस्तिष्क दोनों एक साथ काम करते जान पड़ते हैं जिस कारण उसमें भावुकता एवं दार्शनिकता दोनो का ही समावेश है। भावुक बन कर ये अपने इष्टदेव की प्रेमिका अथवा कभी-कभी उसकी माता तक बन जाते हैं तो अन्यत्र ये किसी चिंतनशील व्यक्ति के रूप में अपनी गाढ़ी स्वानुभूति व्यक्त करने लगते हैं और अखिल विश्व में सर्वत्र आत्म तत्व का ही दर्शन करने में लीन हो जाते हैं। नम्माळ्वार के अतिरिक्त अन्य आळवारों में से कम से कम दो अर्थात् तिरुमंगै तथा कुलशेखर के नाम विशेप रूप में उल्लेखनीय है। तिरुमंगै भी एक प्रतिभाशाली कवि थे जिन्होंने माधुर्य एवं दास्य भाव को समान रूप में अपनाया और कुलशेखर केरल प्रांत के संत नरेश थे। ये दोनों ही आळवार विष्णु के रामावतार के प्रति अधिक आकृष्ट थे और उसकी भक्ति को विशेप महत्व देते थे।

केरल प्रांत की भापा पहले वस्तुतः तमिळ का ही एक विशिष्ट रूप थी जिस कारण कुलशेखर की गणना तमिळ कवियों मे की जाती है। वहाँ की वर्तमान भापा मलयालम का स्वरूप पीछे अधिक निखर जाने पर भी भक्ति रसपूर्ण रचनाओं का वहाँ अभाव नहीं रहा। इसमें अधिकतर कृष्णभक्त कवियों ने ही रचना की जिनमें चेरुस्सेरी नंबूद्री, तुंजन, आदि

विशेष प्रसिद्ध हैं। त्रावंकुर राज्य के नरेशों का परिवार कला एवं भक्ति-भावपूर्ण साहित्य के निर्माण में विशेष रुचि लेता आया। राज्य की ओर से भी पद्मनाभ जी का एक सुप्रसिद्ध वैष्णव मंदिर भी वहाँ बहुत पुराने समय का स्थापित किया हुआ वर्तमान है तथा राजा लोग अपने को 'श्री पद्मनाभ का दास' और उन्हें अपना कुलदेव मानते, अभी आधुनिक समय तक चले आये हैं। ऐसे नरेशों में ही गर्भ श्रीमान् (सन् १८१३-१८४६ ई०) भी थे जिन्होंने, मलयालम, संस्कृत, कन्नड़ी एवं तेलुगु के अतिरिक्त हिंदी भाषा में भी पदों और गीतों की रचना की थी। इनकी श्रीकृष्ण परक हिंदी रचनाओं मे सूरदास एवं मीरांबाई जैसे हिंदी के भक्त कवियों के भक्तिभाव तथा लीला गान के उदाहरण मिलते हैं।[१] तमिळ प्रांत की भक्ति परंपरा का प्रभाव जिस प्रकार केरल प्रांत के साहित्य पर पड़ा उसी प्रकार उसने कर्णाटक प्रांत के कन्नड़ी साहित्य को भी प्रभावित किया।

कर्णाटक में भक्ति परंपरा द्वारा प्रभावित रचनाशैली का आरंभ वीरशैव संप्रदाय के प्रचारक बसव आदि के कारण हुआ। इन्होंने अपने प्रांत की कन्नड़ी भाषा मे 'वचन साहित्य' का निर्माण एवं प्रचार किया जो गद्य काव्य के रूप में स्वीकृत किया गया। इन वचनों में प्रमुखतः आचरण प्रधान भक्ति का भांडार भरा था और आळवारों के पदों की भाँति ये भी धार्मिक साहित्य बन गये। शैवों के इस 'वचन साहित्य' से फिर इस प्रांत के वैष्णव हरिदासों को प्रेरणा मिली जो विष्णु के 'विट्ठल' रूप के उपासक थे। इनका संप्रदाय 'दासकूट' के नाम से प्रसिद्ध हुआ उसमें एक से एक बढ़कर प्रतिभाशाली कवि हुए जिन्होंने अपने आध्यात्मिक जीवन की अनुभूतियों का सारतत्व निकाल कर अपनी मधुर बानियों में संचित कर दिया। इनके विट्ठल वास्तव में पांडुरंग थे जिनका नाम पांडवों के कृष्ण का अभिप्राय प्रकट करता है और इनकी भक्ति

[१] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भा० १६, पृ० ३१६-२४

साधना मध्वाचार्य के द्वैतवाद पर आश्रित थी। इनकी एक अन्य विशेषता यह भी थी कि इन्होंने शैवधर्म के प्रति कभी विरोधी भाव प्रकट नहीं किया, प्रत्युत उसके साथ समन्वय दर्शाने का ही प्रयत्न किया। इनकी वानियों में अपने इष्टदेव के प्रति जो भक्ति भाव प्रकट किया गया है वह अतीव सुंदर और हृदयग्राही है। वीरशैवों के 'वचन साहित्य' और हरिदासों के पदों ने न केवल कन्नड़ी साहित्य का भाडार भर दिया अपितु उनमें उस भाषा का प्रौढ़ रूप भी पूर्णतः निखर आया।

वीर शैवों के 'वचन साहित्य' की यह विशेषता थी कि उसका विषय कोरा भक्तिभाव का ही नहीं था उसमें सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं, कुरीतियों तथा बाह्याडंबरो पर उनके रचयिताओं द्वारा किया गया निर्मम प्रहार भी संमिलित था। ये लेखक प्रत्येक व्यक्ति की आभ्यंतरिक शुद्धि एवं सच्चे नैतिक व्यवहारों के समर्थक थे और ये तदनुसार साधना एवं आचरण के उपदेश भी देते थे। इनमें बसव के अतिरिक्त चेन्न बसव तथा अल्लामा प्रभु विशेष रूप में प्रसिद्ध हैं। बसव अपने इष्टदेव शिव को 'कूडळ संगम देव' के नाम से अभिहित करते थे और शिवैक्य अथवा जीवन्मुक्ति की दशा उपलब्ध करने के लिए भक्ति को ही सर्वोत्तम मार्ग समझते थे। उस स्थिति का एक पारिभाषिक नाम 'शरण' भी था जिस तक पहुँच जाने पर उपास्य एवं उपासक में कोई भेद नहीं रह जाता। वे कहते हैं—

क्या देव लोक मर्त्यलोक अलग अलग है?
इसी लोक में है अनंतलोक!
शिवलोक शिवाचार है, भक्त का स्थान ही देवलोक है
भक्त का आंगन ही वाराणसी है, काम ही कैलास है,
कूडळ संगम देव, यही सत्य है।[1]

और फिर, प्रभो, उत्तम कुल में जन्म लेने का बोझ सिर पर मत लादो।

---

[1] 'बसवण्ण का षट स्थल वचन', पृ० २७

प्रभो, मुझे ऐसा बनाओ कि मैं कक्कय्या का जूठन खा सकूँ।[1] कक्कय्या चाण्डाल जाति का व्यक्ति था जो शिवानुभव मंडल में आ गया था।

हरिदासों की भक्ति भाव भरी रचनाओं का आरंभ वीर शैवो के कुछ पीछे हुआ। इसलिए वे भी 'वचन साहित्य' से न्यूनाधिक प्रभावित थीं। हरिदासों को कभी-कभी तीन पृथक्-पृथक् वर्गों में विभाजित किया जाता है जिनमें से प्रथम के अंतर्गत वे आते हैं जिनकी रचनाओं के प्रमुख लक्ष्य मध्वसंप्रदाय के अनुयायी है और दूसरे वर्ग में उन लोगो की गणना की जाती है जिनका क्षेत्र उनसे कुछ अधिक व्यापक है तथा जो साधारणतः भक्ति के साथ ज्ञान एवं कर्म का भी सामजस्य स्थापित करना चाहते हैं। किंतु इन दोनो से भी अधिक महत्त्वपूर्ण वह वर्ग माना जा सकता है जिनके कवियों की रचनाएँ प्रत्येक मानव को लक्ष्य करके निर्मित की गई प्रतीत होती है।[2] इन सभी को उस 'दासकूट' संप्रदाय के अंतर्गत संमिलित करने की परंपरा है जिसकी स्थापना वस्तुतः व्यासराय (सन् १४४७-१५३९ ई०) ने की। श्रीपाद राय इनसे भी कुछ पहले के थे और उन्होंने 'भ्रमर गीता', 'वेणुगीता' एवं 'गोपीगीता' की रचनाओं द्वारा श्रीकृष्ण लीला का वर्णन किया था। व्यासराय के लिए प्रसिद्ध है कि बंगाल के श्रीकृष्ण चैतन्य अथवा गौरागंदेव भी उनके शिष्यों में थे। व्यासराय ने दार्शनिक दृष्टि से द्वैतवादी होते हुए भी, अपने अंतःस्थित इष्टदेव की उपासना का रूप संतों की सहज समाधि सा बना दिया है। वे कहते हैं—"मैं अपने हृदय-स्थित भगवान् की मूर्ति की पूजा प्रतिदिन किया करता हूँ। मेरा शरीर मंदिर है मेरा हृदय मंडप है, मेरी आँखें आरती का काम करती है और मेरे हाथ चंवर बने हुए हैं। मेरी तीर्थयात्रा ही मेरी परिक्रमा है और मेरा सोना उसके समक्ष दंडवत् करना

---

[1] बसवण्ण का षटस्थल वचन, पृ० २९ [2] करमरकर : मिस्टिक टिचिंग्स ऑव् दी हरिदासज़ ऑव् करनाटक, पृ० १४-१५

है। उसकी स्तुतियाँ मंत्र रूप हैं, और जो कुछ कथन करता हूँ वे पुष्प रूप है। मेरा चलना उसके सामने मेरा नृत्य करना है और मेरे वस्त्र उसी के परिधान है—जो कुछ भोजन करता हूँ वह नैवेद्य है—फिर मुझे और क्या करना है? जब सभी कुछ मेरे भीतर ही है तो मै सदैव श्री कृष्णोपासना में निरत रहा करता हूँ।"[1]

पुरंदरदास (सन् १४८४-१५६४ ई०) इन हरिदास वा दासकूट भक्तों में सबसे प्रसिद्ध है और उनकी रचनाएँ भी बहुत उच्चकोटि की हैं। इनके लिए कहा जाता है कि ये अपनी पत्नी के कारण इतने बड़े भक्त हुए थे और इनका नाम कृष्णप्पा से पुरंदरदास हो गया था। कृष्णप्पा महान कंजूस थे किंतु इनकी पत्नी उसी प्रकार दानशीला भी थी और कोई याचक उसके यहाँ से लौट नहीं सकता था। एक बार स्वयं पांडुरंग कृष्ण इनके यहाँ भिक्षुक ब्राह्मण बनकर गये और इनसे कुछ न पाकर इनकी पत्नी से उसका नथ माँग लिया। भिक्षुक ने फिर उस नथ को कृष्णप्पा के यहाँ गिरवी के रूप में रख कर कुछ द्रव्य लिया और इन्होंने उसे अपने घर का ही गहना जानकर अपनी पत्नी पर क्रोध किया। बेचारी अत्यंत भयभीत होकर भगवान् से प्रार्थना करने लगी जिसके फलस्वरूप उसे वह नथ फिर मिल गया और इस घटना के रहस्य द्वारा पूर्ण प्रभावित होकर कृष्णप्पा पुरंदरदास नामक प्रसिद्ध भक्त बन गए। पुरंदरदास की भक्ति अपने इष्टदेव के प्रति दृढ़ आस्था एवं गहरी श्रद्धा से पूर्ण है और ये अपने को किसी बड़े के समक्ष छोटे के रूप में प्रदर्शित करने का प्रयत्न अधिक करते हैं। ये कहते हैं—"हे श्रीरंग, मुझे अपने में पूर्ण विश्वास करने की शक्ति दो, यदि मैं अशक्त बनने लगूँ तो मुझे भिक्षुक बना दो और यदि मैं किसी से कुछ माँगू तो उसे देने तक मत दो। यदि कोई मुझे भोजन दे तो भी मुझे अर्द्ध भुक्त ही बने रहने दो और यदि पेट भर भी जाय तो मुझे वस्त्र न देने दो। इसी प्रकार यदि

---

[1] करमकर : मिस्टिक टिचिंग्स ऑव् दी हरिदासाज़ ऑव् करनाटक, पृ० ४६-७

कपड़े मिल भी जाँय तो मुझे कहीं रहने की जगह न मिल पाये जिससे मैं तुम्हारे ही श्रीचरणों में शरण पा सकूँ।[1]

लगभग इसी समय वीर शैवों तथा हरिदासो की भाँति उधर महाराष्ट्र के महानुभावों तथा वारकरियों ने भी अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। महानुभाव पंथ के प्रचारक चक्रधर का आविर्भाव उपर्युक्त बसव के कुछ ही दिनो पीछे हुआ था और वे कृष्ण के उपासक समझे जाते हैं। किंतु महानुभावों की उपासना मे वीरशैवो अथवा हरिदासो जैसा भक्ति का गहरा रंग नहीं दीख पडा। इसके उत्कृष्ट उदाहरण हमें उन रचनाओ में मिलते हैं जो ज्ञानेश्वर, एकनाथ एव तुकाराम जैसे वारकरियो द्वारा निर्मित हुई हैं। इन सतो ने अपनी मराठी रचनाओं मे हरिदासों की भाँति ही कीर्तनशैली को पूर्णतः अपनाया है और उन्हीं के इष्टदेव विट्ठल वा विठोबा को अपना इष्टदेव भी स्वीकार किया है। इनमें वीरशैवों तथा हरिदासों जैसी सुधार-प्रियता भी लक्षित होती है जो महानुभावों मे क्रांति की सीमा तक स्पर्श करती जान पड़ती है। इन वारकरियो की मराठी 'ओवियों' तथा 'अभंगो' में हमें प्रधानतः उस भक्ति का परिचय मिलता है जिसका उपदेश गीता में किया गया है। ये वीरशैवो तथा हरिदासों की भी अपेक्षा वैदिक परंपरा के अधिक निकट हैं जिस बात मे ये महानुभावों से नितांत भिन्न कहे जा सकते हैं। इसके सिवाय हरिदास एवं महानुभाव जहाँ द्वैतवाद को प्रश्रय देते हैं वहाँ ये विट्ठल के उपासक होते हुए भी प्रधानतः अद्वैतवादी ही हैं। वास्तव मे ये निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं और इस बात मे ये उत्तर प्रदेश के कबीर जैसे संतों के भी पथ प्रदर्शक जान पड़ते हैं। तमिळ प्रांत के अळ्यिारों तथा आळ्वारों और कर्णाटक तथा महाराष्ट्र के क्रमशः वीरशैवो अथवा हरिदासो तथा महाराष्ट्र के महानुभावों और वारकरियों की भक्तिसाधना मे एक बहुत

---

[1]करमरकर : मिस्टिक टिचिंग्स ऑव् दी हरिदासाज़ ऑन् करनाटक, पृ० ५५

बड़ा अंतर इस बात के कारण आ जाता है कि तमिळ प्रांत वाले जहाँ इसे केवल व्यक्तिगत रूप तक ही सीमित रखते थे और इसके द्वारा अकेले आत्मविभोर बना रहना चाहते थे वहाँ इन लोगों ने इसका सांप्रदायिक रूप में भी प्रचार करना आरंभ किया।

कर्णाटक के हरिदासों की भक्तिसाधना का एक रूप सुदूर बंगाल प्रांत मे भी दीख पड़ा। मध्वाचार्य के ही द्वैतवाद से प्रभावित होकर वहाँ चैतन्यदेव ने भक्ति के एक नवीन 'गौड़ीय संप्रदाय' को जन्म दिया जिसमें स्वभावतः स्थानीय सहजिया वैष्णवों के प्रेम भाव का भी पुट आ गया। उनके अनुयायी कवियों की बंगला पदावली में मधुर रस का एक समुद्र सा उमड़ पड़ा जिसने प्रायः सारे प्रांत को ही आप्लावित कर दिया। चैतन्यदेव के पूर्ववर्ती चंडीदास की सहजिया रचनाओं में जिस प्रेमपात्री की ओर केवल अस्पष्ट सा ही संकेत रहा वह गौड़ीय वैष्णव कवियों के इष्टदेव कृष्ण की प्रेयसी राधा का प्रत्यक्ष रूप धारण कर सर्वसाधारण के सामने उपस्थित हो गई। फिर तो उनके साथ किये गये प्रेमी कृष्ण के विविध विहारों का ऐसा सजीव चित्रण हुआ कि ऐसे पदों को गाकर कीर्तन करनेवाले आनंद विभोर होकर नृत्य तक करने लग गये और उनकी मंडलियों का प्रचार अन्य प्रांतों तक भी हो गया। तमिळ प्रात के भक्तों ने अपनी पदरचना में संगीत के लय अवश्य भरे थे और कर्णाटक एवं महाराष्ट्र के क्रमशः हरिदासों एवं वारकरियों ने झाझों और कठतालों के सहारे कीर्तन भी किया था, किंतु गौड़ीय संप्रदाय की भक्ति-साधना के लिये यह पद्धति अनिवार्य सी हो गई। बंगाल प्रांत की इस भक्ति परंपरा की एक विशेषता इस बात में भी लक्षित हुई कि यहाँ की विरहिणी प्रेमिका को हिंदी के सूरदासादि की गोपियों की भाँति उद्धव जैसे किसी माध्यम द्वारा कभी निर्गुण ब्रह्म वाले उपदेश नहीं सुनने पड़े और वह विरह की प्रबल धारा में एक समान प्रवाहित होती रह गई। इसके सिवाय तमिळ अथवा कर्णाटक प्रांतों के विपरीत यहाँ उस समय शैवभक्तों का प्रायः अभाव सा था तथा हरिदासों एवं वार-

करियों की रचनाओं में जहाँ योगमार्गी नाथपंथ का भी प्रभाव दीख पडा वहाँ गौड़ीय रचनाएँ इससे अछूती रह गईं। बंगला साहित्य में पीछे रामप्रसाद जैसे शाक्त कवियों की भी भक्तिपूर्ण रचनाएँ सम्मिलित हुईं जिनमें मधुर रस की जगह वात्सल्य ही अधिक थी।

चैतन्य देव ने अपने अंतिम दिन उड़ीसा प्रांत की पुरी मे व्यतीत किये थे और वहीं उनका देहांत भी हुआ था जिस कारण वहाँ के उड़िया भाषा भाषियों पर भी बंगाल के गौड़ीय संप्रदाय का प्रभाव बिना पड़े नहीं रह सका। उनके वहाँ आने के समय तक जिस वैष्णव भक्ति का प्रचार था और जिसके द्वारा अनुप्राणित होकर उड़िया कवि अपने पदों की रचना कर रहे थे वह अधिकतर बौद्धधर्म से प्रभावित थी। इन वैष्णव कवियों के इष्टदेव कृष्ण 'अलेख' एवं 'शून्य पुरुष' थे और इनकी राधा भी जीवात्मा से अभिन्न थी जिस कारण इनकी भक्ति साधना बहुत कुछ योगपरक रूप धारण कर लेती थी। इसमें उस गुण-गान एवं लीला कीर्तन का समावेश नहीं था जो गौड़ीय भक्तो की विशेषता है। उड़िया वैष्णव कवि अच्युतानंददास, जगन्नाथदास तथा बलरामदास आदि ने अपनी रचनाओं में इसी कारण गेयत्व की ओर अधिक ध्यान नही दिया है और उनके 'शून्य संहिता' और 'विराट् गीता' जैसे ग्रथों की पक्तियों में शुष्क वर्णनात्मक शैली के ही अधिक उदाहरण पाये जाते हैं। मराठी के वारकरी कवि अपनी रचनाओं में अधिक दार्शनिकता और पौराणिकता के आ जाने पर उन्हें सरस एवं हृदयग्राही बना लेते थे। हिंदी के संत कवियो मे से भी कई एक अपने ऐसे पदों को आकर्षक बनाने में सफल कहे जा सकते हैं किंतु उड़िया के 'पंचसखा' वैसे नहीं जान पड़ते। इनकी वे ही रचनाएँ अधिक सुंदर हैं जिनमे या तो इन्होंने अपने निजी उद्गार प्रकट किये हैं अथवा जिन पर गौड़ीय वैष्णव भक्ति का भी स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।

हिंदी भाषा के संत कवियों पर कुछ न कुछ महाराष्ट्र के वारकरी संतों का भी प्रभाव लक्षित होता है। इनमें से सर्वप्रथम कवि कबीर के

वारकरी कवि नामदेव का नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिया है और ये उनको तथा जयदेव को कलियुग के सर्वश्रेष्ठ भक्तों में गिनते हैं। जयदेव कवि का संबंध संभवतः उड़ीसा से ही था और वे बहुधा प्रसिद्ध गीत गोविंदकार जयदेव से भी अभिन्न कहे जाते हैं। परंतु उनकी रचनाएँ अभी तक किसी प्रादेशिक भाषा में अच्छी संख्या में उपलब्ध नहीं है जिस कारण उनके विषय में कुछ निश्चय रूप से कहना संभव नहीं है। कबीर आदि संत कवि शुद्ध निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे और स्वभावतः अद्वैतवादी भी थे। इन पर गीतादि जैसे ग्रंथों का भी प्रभाव नहीं जैसा वारकरी संतों पर दीख पड़ता है और न वे बौद्धों के शून्यवाद आदि को भी उस रूप में ग्रहण करते हैं जिसे उड़िया के 'पंचसखा' कवियों ने अपनाया था। इनमें उन प्रथम वर्ग वालों की दार्शनिकता है और दूसरे वर्ग वालों की बुद्धिवादिता भी कम नहीं है। किंतु इन्होंने इन दोनों बातों को उचित अनुपात में रखने की चेष्टा की है और इस ओर इन्हें कदाचित् उन हृदयवादी सूफ़ियों से भी सहायता मिली है जिन्होंने अपने प्रेम पंथ का प्रचार इधर बड़े पैमाने पर आरंभ कर दिया था। संत कबीर के कुछ ही पीछे फिर सगुणवादी कृष्णभक्त सूरदास आदि तथा रामभक्त तुलसीदास आदि का समय आ गया जिन्होंने न केवल क्रमशः कृष्णावतार एवं रामावतार का गुणानुवाद किया, अपितु जो किसी न किसी रूप में निर्गुण भक्ति का न्यूनाधिक विरोध करने से भी विरत न हो सके। इन दोनों प्रकार के कवियों ने अपनी रचनाओं का प्रमुख आधार 'श्रीमद्-भागवत' अथवा 'वाल्मीकीय रामायण' को बनाया और तदनुसार वस्तुतः उस परंपरा का ही पालन किया जिसका अनुसरण क्रमशः कन्नड़ी के रुद्र भट्ट, तेलुगु के पोतन्ना, गुजराती के नरसी और बंगला के मालधर वसु के संबंध में अथवा तमिळ के कंबन, तेलुगु के भास्कर कवि, गुजराती के भालण तथा बंगला के कृत्तिवास, किसी न किसी रूप में, इनके पहले से ही करते जा रहे थे। इनकी विशेषता केवल इस बात में लक्षित हुई कि इन्होंने अपनी कृतियों पर अपने व्यक्तित्व की छाप

अत्यंत गहरे रंग में डाली तथा दास्य, माधुर्य, वात्सल्य एवं सख्य भावों में से प्रत्येक के पर्याप्त उदाहरण प्रस्तुत किये।

भक्ति परंपरा की प्रवृत्ति की दृष्टि से हम तेलुगु साहित्य को उतना महत्त्व नहीं दे सकते। न तो यहाँ के क्षेत्र में वैसा बड़ा कोई भक्ति-आंदोलन चला और न कोई ऐसा भक्त कवि ही हुआ जिसकी रचनाओं का बहुत व्यापक प्रभाव देखने में आया। प्रसिद्ध वल्लभाचार्य ने इस प्रदेश के होते हुए भी, अपने कार्य क्षेत्र को अन्यत्र बनाया और उन्होंने जो कुछ रचनाएँ की उनका माध्यम वे तेलुगु को नहीं बना सके। तेलुगु साहित्य की इस ओर सबसे बड़ी देन के रूप में हम 'श्री मद्भागवत' के व्याख्याता केवल पोतन्ना का नाम ले सकते हैं और उस राजकवि कृष्ण देवराय को भी नहीं भूल सकते जिन्होंने 'आमुक्त माल्यदा' जैसी अपूर्व रचना प्रदान की है। पोतन्ना का 'श्री मद्भागवत' केवल कहने के लिए ही अनुवाद है, उसका अधिक अंश स्वतंत्र काव्य द्वारा ओतप्रोत है और जिसके 'गजेंद्रमोक्ष' जैसे कतिपय प्रसंगो के स्थल पर भक्तिरस का प्रवाह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। श्रीकृष्णदेव राय की रचना में प्रसिद्ध आळ्वार भक्तिन आंडाल की कथा का वर्णन बड़ी सरस शैली में किया गया है। किंतु ऐसे अन्य नामों का वहाँ प्रायः अभाव सा ही दीख पड़ता है। विख्यात गायक त्यागराज के गीतो में हमे उनके इष्टदेव राम के प्रति भक्ति अवश्य झलकती है, किंतु वह उनकी कला प्रियता के सामने कुछ दब सी जाती है। गुजरात के नरसी मेहता में हिंदी के अष्ट-छाप वाले कवियों जैसी ही शृंगारिक भक्ति का उदाहरण मिलता है। वे तुकाराम आदि मराठी कवियों की भाँति अपने पदों में तल्लीनता का भाव प्रकट करना जानते हैं और उन पर उनके व्यक्तित्व का प्रभाव भी बहुत स्पष्ट है। गुजराती भाषा में प्रसिद्ध कवयित्री मीराबाई की भी रचनाएं इस संबंध में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, किंतु उनकी अधिक महत्ता उनके हिंदी पदो के ही कारण स्वीकार की जाती है और उनमें प्रकट किये गए सच्चे दांपत्य भाव के लिये वे तमिळ की भक्तिन आंडाल वा

गोदा की समकक्ष समझी जाती हैं। गुजराती ने भालण जैसे निपुण राम-भक्ति का कवि भी दिया है, किन्तु उसकी विशेषता कृष्ण भक्ति परक रचनाओं में ही स्वीकार की जा सकती है। इस भाषा के भक्त कवियों की रचनाओं में किसी आंदोलन विशेष को प्रेरणा नहीं लक्षित होती, किंतु ये कभी-कभी शैवधर्म के प्रति विरोधभाव भी प्रदर्शित करते दीख पड़ते हैं।

भक्ति आंदोलन को लेकर चलने वाले कवियों में हम असमी भाषा के शंकरदेव एवं माधव देव आदि के भी नाम ले सकते हैं। ये कवि कृष्णोपासक थे किंतु इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि चैतन्यदेव के गौड़ीय संप्रदाय के कार्य क्षेत्र की सीमा पर बने रहते हुए भी इन्होंने उनके राधाभाव को नहीं अपनाया। ये राधा एवं कृष्ण की युगल मूर्ति के भी उपासक नहीं थे, प्रत्युत इनकी भक्ति की विशेषता भगवान के प्रति 'एक शरण' का भाव व्यक्त करने में ही दीख पड़ी। इन्होंने श्रीकृष्ण के बालरूप की ओर विशेष ध्यान दिया और उसकी विविध लीलाओं का वर्णन करने में हिंदी के सूरदास जैसे प्रयत्न किये। शंकरदेव का कहना था—

एक देउ, एक सेउ, एक विने नाई केउ

शंकरदेव तथा उनके शिष्य माधवदेव आदि ने महापुरुषिया नामक संप्रदाय चलाया जिसने असम देश के पूर्व प्रचलित शाक्त धर्म के नाथ पंथियों की शक्ति घटाने में बहुत बड़ा काम किया। इसने वहाँ बंगाल के गौड़ीय मधुर रस का भी प्रभाव नहीं पड़ने दिया। इन असमी भक्त कवियों के 'नामघोषम्' 'बारगीतम्' एवं विविध नाटकीय रच-नाएँ असमी साहित्य की अमूल्य निधि बनी हुई हैं।

भारत के पश्चिमी एवं उत्तरी भागों वाले क्रमशः पंजाबी तथा काश्मीरी साहित्यों को देखने से पता चलता है उनके भक्तिभाव विषयक अंशों पर न्यूनाधिक सूफी संप्रदाय का प्रभाव पड़ा है और वे 'रामायण' एवं 'महाभारत' जैसे ग्रंथों से प्रायः अछूतों से भी जान पड़ते हैं। पंजाबी-साहित्य का तो आरंभ ही कदाचित् बाबा फरीद जैसे सूफियों द्वारा हुआ

था और उसके भाडार का अधिक भाग सिखों द्वारा भरा गया। फलतः इसके अंतर्गत हमें निर्गुण भक्ति के ही उदाहरण अधिक संख्या मे मिलते हैं और उसमें ऐहिकता का पुट भी उल्लेखनीय है। उसमे अलौकिक धर्मों के प्रति आकर्षण की कमी है और नैतिक एवं व्यावहारिक पक्षों पर विशेष बल दिया गया मिलता है। सिख गुरुओं की रचनाओं मे उपलब्ध भक्ति भाव पर नाथ-पथ जैसे योग मार्गी संप्रदायों का भी प्रभाव कम नहीं जान पड़ता। बलीराय आदि कतिपय कवियों की सगुण भक्ति परक पंक्तियों में मानवीय प्रेम की ही झलक अधिक मात्रा मे दीख पड़ती है। पंजाबी साहित्य में शैवों तथा राम भक्तों की भी कृतियों का पता नहीं चलता और कृष्ण भक्तो की अधिकांश रचनाएँ भी केवल फुटकल रूपो मे ही उपलब्ध हैं। शैवों को भक्ति परक रचनाएँ हमें काश्मीरी भाषा के साहित्य में मिलती है, किंतु उनमे भी दार्शनिकता का पुट अधिक मात्रा में दिखलाई देता है। काश्मीर के पुराने शैव कवियों मे ललेश्वरी अथवा लालदेद का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इनका आविर्भाव हिंदी के संत कवि कबीर से कुछ पहले ही हुआ था और इनका सारा जीवन ही प्रेमोन्माद से भरी किसी योगिनी का सा रहा। कहते हैं कि इनकी सास ने इन्हें बहुत अधिक सताया था और अपने पति की ओर से भी ये सदा उपेक्षित ही बनी रहीं। किंतु इनकी उपलब्ध रचनाओं से स्पष्ट है कि ये एक प्रतिभाशालिनी महिला थी और इनकी भावधारा गंभीर चिंतन एवं स्वानुभूति की सुदृढ़ पृष्ठभूमि से होकर प्रवाहित हुई थी। लालदेद की रचनाओं पर हमें उस त्रिक् दर्शन का भी प्रभाव कम नहीं लक्षित होता जो काश्मीरी शैव संप्रदाय की आधार शिला है। परंतु फिर भी उनका संपर्क शाह हमदान से भी था जो काश्मीर के प्रसिद्ध सूफी संतो में गिने जाते हैं और जो वहाँ सन् १३८० से १३८६ तक वर्तमान थे। लालदेद का इष्टदेव वह परात्पर शिवतत्त्व है जिसे 'शिव, केशव, जिन वा नाथ' कुछ भी कह सकते हैं और जिसकी किसी भी ऐसी भावना को लेकर उसमे हार्दिक विश्वास रखने वाला सांसारिक दुःखो से सर्वथा मुक्त हो

सकता है।"[1] इस बात में ये अपनी पूर्ववर्तिनी शैव भक्त कवयित्री कारैक्काल अम्मैयार से भिन्न हैं जो सगुण शिव की उपासिका थी और जिनकी चर्चा तमिळ साहित्य के प्रसंग में पहले की जा चुकी है।

भारत की प्रमुख प्रादेशिक भाषाओं के कवियों की रचनाओं में इस प्रकार, भक्ति परंपरा की प्रवृत्ति विभिन्न रूपों में काम करती जान पड़ती है। कहीं पर यह वात्सल्य भाव को प्रश्रय देती है तो कहीं सख्य भाव को अपनाती है और कहीं पर दास्यभाव को ही स्वीकार कर लेती है। इसे सबसे अधिक बल तब मिलता है जब यह माधुर्य भाव का सहयोग प्राप्त करती है अथवा इसे अद्वैतवाद का समर्थन मिलता है। पहले पहल यह प्रधानतः भक्त कवियों की व्यक्तिगत साधनाओं का ही आश्रय ग्रहण करती है, किंतु पीछे फिर इसे विविध भक्ति आंदोलनों का भी अवलंब मिलने लगता है और कभी-कभी उनमें से कई कवि स्वयं भी उनके प्रवर्तक होने लग जाते हैं। एक प्रादेशिक साहित्य दूसरे पर अपना प्रभाव स्वभावतः डालता रहता है और ऐसी कार्य-कारण परंपरा कभी-कभी लंबी तक भी बन जाती है। किंतु एकाध बार ऐसा भी देखने में आता है कि एक का प्रभाव दूसरे के ऊपर दूरी का विशेष व्यवधान रहते हुए भी पड़ गया है और कहीं-कहीं दो प्रांतों की सीमाओं के मिली रहने पर भी परिस्थिति वश एक का साहित्य दूसरे से भिन्न रह जाता है। इसके सिवाय यहाँ पर यह भी स्मरणीय है कि इन साहित्यों में प्रदर्शित भक्ति भाव अधिकतर वैष्णव संप्रदाय से ही संबंध रखता है और विशेष रूप से वहाँ भी श्रीकृष्ण को ही अपना ध्येय बनाता है। किंतु कहीं-कहीं पर इसका रूप शैव अथवा शाक्त संप्रदायों का भी रंग ग्रहण कर लेता है और वहाँ या तो दास्य अथवा वात्सल्य के ही अधिक उदाहरण मिलते हैं। भक्तिधारा के प्रवाह द्वारा इस प्रकार सारे भारत का ही प्रादेशिक साहित्य आप्लावित जान पड़ता है और इसके प्रभाव से स्थानीय लोक साहित्य तक भी अछूते नहीं हैं।

---

[1] लल्लेश्वरी वाक्यानि, पद २२, पृ० १०

भारतीय प्रेमाख्यानों की प्रवृत्तियाँ

प्रेमाख्यानो की परंपरा बहुत पुरानी है और ये अपने बीज रूप में, प्राचीन वैदिक साहित्य तक के अंतर्गत पाये जाते हैं। ऋग्वेदीय संहिता के कई सूक्त, जिनमें संवादो के प्रयोग आते हैं और जिनमें प्रेम भाव की भी चर्चा है, इन प्रेमाख्यानों की कोटि मे रखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए इस संहिता के ९५ वें सूक्त, में जो उर्वशी एवं पुरुरवस का प्रेमालाप आया है अथवा उसके ही १० वे सूक्त मे जो यम एवं यमी का संवाद मिलता है, वे दोनों इस प्रकार की रचनाओं के प्रारंभिक रूप की ओर संकेत करते जान पड़ते हैं। उर्वशी एवं पुरुरवस के इस कथोपकथन को बहुत से विद्वानों ने क्रमशः उषा एवं सूर्य के पारस्परिक सबंध के अर्थ मे समझाने की चेष्टा की है।

परंतु इस प्रसंग के किसी न किसी वृहद् रूप के फिर शतपथ ब्राह्मण तथा कृष्ण यजुर्वेद के काठक में भी आ जाने से, इस विषय मे कोई संदेह नही रह जाता। इसके सिवाय महाभारत एवं पौराणिक साहित्य के रचनाकाल तक जब वही उर्वशी पूरी अप्सरा की कोटि तक पहुँच जाती है तथा पुरुरवस का भी रूप एक राजपुरुष बनकर निखर आता है, तो उन लोगों के प्रणय रहस्य को भली भाँति समझ लेने मे विलंब नहीं लगता। हरिवंश, विष्णु पुराण, ब्रह्मपुराण, वायुपुराण तथा वामनपुराण तक तो पुरुरवस एक प्रसिद्ध क्षत्रिय वंश के पूर्व पुरुष का भी रूप धारण कर लेते हैं। फिर भी यम एवं यमी के संवाद को इस प्रकार विकास पाने का कभी अवसर नहीं आता, जिसका कारण यह हो सकता है कि उसमें बहन यमी की ओर से अपने भाई यम के प्रति यौन संबंध का प्रस्ताव है, जो सुसंस्कृत आर्यों की सामाजिक पद्धति के प्रतिकूल जाता दीख पड़ता है।

महाभारत एवं पौराणिक साहित्य में अनेक ऐसे भी प्रेमाख्यान आते हैं, जिनका कोई पता प्राचीन वैदिक साहित्य में नहीं चलता। ये सर्वथा नवीन जान पड़ते हैं, और इस प्रकार के साहित्य को यदि विविध आख्यानों का भांडार भी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। महाभारत के आदि पर्व में दुष्यंत एवं शकुंतला का प्रेमाख्यान आता है और उसके वनपर्व में नल और दमयंती की कथा आती है, जिन दोनों की भी चर्चा पीछे विभिन्न पुराणों में की गयी पायी जाती है। इसी प्रकार अर्जुन और उलूपी, अर्जुन और उर्वशी तथा अनिरुद्ध एवं उषा आदि से संबंध रखने वाले अनेक प्रेमाख्यान भी उनमें से कई रचनाओं में उपलब्ध हैं। इन्हें न केवल एक से अधिक बार दुहराया गया है, अपितु इनके आधार पर पीछे बहुत सी सुंदर काव्यकृतियों की भी सृष्टि की गयी है। उदाहरण के लिए दुष्यंत एवं शकुंतला तथा पुरुरवस एवं उर्वशी के प्रेमाख्यानों का आश्रय ग्रहण कर महाकवि कालिदास ने अपने दो अमर नाटकों की रचना की है तथा नल एवं दमयंती की कथा के आधार पर महाकवि श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य नैषध चरित का निर्माण किया है। कहना न होगा कि ऐसे कवियों ने मूल कथावस्तु को अपने काव्य कौशल द्वारा कलात्मक विस्तार दे दिया है, और उपयुक्त नूतन घटनाओं के विधान विभिन्न पात्रों के सफल चित्रण तथा वातावरणादि के सूक्ष्म अंकन द्वारा ये कृतियाँ वस्तुतः सजीव बन बैठी हैं। ऐसे प्रेमाख्यानों के क्रमिक विकास का इतिहास अत्यंत रोचक है और इसका अध्ययन हमें अपनी संस्कृति के समझने में भी सहायक हो सकता है।

प्रेमाख्यानों का विचित्र साम्य

इस प्रकार के वैदिक, पौराणिक अथवा काव्यात्मक आख्यानों की कई बातों में हमें एक विचित्र साम्य दीख पड़ता है। सर्वप्रथम इनके प्रेमी एवं प्रेमी पात्रों में से या तो दोनों ही किन्हीं राज परिवारों के सदस्य हुआ करते हैं अथवा इनमें से एक अर्थात् कम से कम प्रेमी का संबंध किसी ऐसे परिवार से अवश्य रहता है जो निम्न वर्ग का है। इसके अप-

वाद प्रायः वहीं मिला करते हैं, जहाँ प्रेम पहले किसी नारी हृदय में अंकुरित होता है। उदाहरण के लिए उर्वशी एक अप्सरा है, जो अर्जुन के प्रति पहले आकृष्ट होती है और हिडिंबा एक राक्षसी है जो भीम को चाहने लगती है। इस दूसरी दशा में एक यह बात भी उल्लेखनीय है कि यहाँ प्रेमभाव की परिणति का वैवाहिक संबंध में भी हो जाना निश्चित नहीं रहता। प्रेमारंभ साधारणतः प्रत्यक्ष भेंट, स्वप्न दर्शन अथवा गुण श्रवण से भी हो जाता है और इसके विकास में प्रायः सखी, सखा पक्षियों एवं दैवी शक्तियों तक से सहायता ली जाती है। इसके उलट फेर में कभी-कभी आकस्मिक घटनाओं का भी पूरा हाथ रहा करता है।

इसी प्रकार प्रेमी एवं प्रेमिका के वैवाहिक संबंध का रूप अधिकतर गांधर्व का रहता है और इसके पहले बहुधा स्वयंवरों की भी रचना कर दी जाती है। परंतु ऐसे प्रेमाख्यानों में बहुधा ऐसे अवसर भी देखे जाते हैं जहाँ प्रेमी को प्रेमिकाओं के लिए भीषण युद्ध तक करना पड़ता है। इसके सिवाय ऐसे प्रसंगों का अंत कभी-कभी इस रूप में भी होता है कि इन सुंदरियों का अनेक विरोधियों के बीच में हरण भी करना पड़ता है। फिर भी जहाँ तक सामाजिक वा परंपरागत संबंधों का प्रश्न है, अपनी मर्यादाओं को अक्षुण्ण बनाये रखने की भी भरपूर चेष्टा की जाती है। इस प्रकार के भारतीय प्रेमाख्यानों के उदाहरण हमें वैदिक साहित्य से लेकर प्रांतीय भाषाओं के मध्यकालीन साहित्यों तक में बराबर मिला करते हैं और उनमें प्रमुख अंतर केवल कथावस्तु की सरलता से, उसकी सजावट की ओर उत्तरोत्तर विकास होते जाने में ही लक्षित होता है।

प्रेमाख्यानों का क्षेत्र

लेकिन हमारे यहाँ उपलब्ध प्रेमाख्यानों का क्षेत्र केवल यहीं तक सीमित नहीं है। बौद्धों के पालि साहित्य एवं जैनियों की प्राकृत एवं अपभ्रंश कथाओं के अंतर्गत बहुत से प्रेमाख्यान मिलते हैं जो इनसे

कई बातों में भिन्न प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के प्रेमाख्यान अधिकतर लोक गाथाओं के स्रोतों से आये हैं और तदनुसार उनमें अधिक सरलता एवं निर्व्याजता भी पायी जाती है। उनके लिए यह आवश्यक नहीं कि उनकी कथावस्तु का संबंध विशेषतः राज परिवारों से ही हो। उनके पात्र बहुधा वैश्यों वा शूद्रादि जाति के लोगों मे से चुने गये रहते हैं और उनमें आये हुए राजाओं को भी किसी साधारण वर्ग की स्त्री के प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित करते कोई संकोच नहीं होता। उदाहरण के लिए बौद्धों के कट्ठहारि जातक राजा ब्रह्मदत्त वन में गा गाकर लकड़ी चुनने वाली लड़की पर आसक्त हो जाता है और इसी प्रकार उन्हीं के मणिचोर जातक वाला वाराणसी नरेश सुजाता नाम की एक स्त्री पर आसक्त हो उसके पति पर मणि की चोरी का अपराध लगाता है, तथा उसका सिर तक कटवा लेना चाहता है, किंतु उस साध्वी की प्रार्थना पर वह केंद्र द्वारा स्वयं मार दिया जाता है।

कट्ठहारि जातक वाले प्रेमाख्यानों में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि उसका राजा ब्रह्मदत्त भी अपनी प्रेयसी लकड़हारिन के गर्भ से उत्पन्न पुत्र को लगभग उसी प्रकार अस्वीकार करता है जिस प्रकार शकुंतला के गर्भ से उत्पन्न बालक को अपनाने से राजा दुष्यंत आनाकानी करते हैं और वहीं की भाँति यहाँ भी एक अँगूठी दिखलाकर स्मरण दिलाने की चेष्टा की जाती है तथा अंत मे सफलता मिलती है।

जैनियों की प्राकृत गाथाबद्ध रचनाओं तथा उनकी अपभ्रंश धर्मकथाओं में भी हमें अनेक प्रेमाख्यान मिलते हैं। इनमें लीलावती कथा प्रसिद्ध है, जिसमें प्रतिष्ठान एवं सिंहल के क्रमशः राजकुमार एवं राजकुमारी के प्रेम एव विवाहादि का वर्णन आता है। इस कथा के अंतर्गत मनुष्य योनि के अतिरिक्त देवयोनि के भी पात्र भाग लेते दीख पड़ते हैं और इसका रूप दिव्य मानवी बन जाता है। इसी प्रकार अपभ्रश की प्रेमकथा 'पउमसिरी चरिउ' के रचयिता ने उसमें प्रेमी तथा प्रेमिका के उनके पुनर्जन्मों के ही अनंतर सफल बनाया है।

इन प्रेमाख्यानों में जैन धर्म में विहित साधनाओं के महत्व एवं कर्म-वाद के निश्चित प्रभावों पर भी विशेष बल दिया गया मिलता है। इनमें से प्रत्येक के अंतर्गत एक प्रधान कथा में अनेक उपकथाएँ क्रमशः गुंफित होती चली जाती है और अंत में निष्कर्ष निकल आता है। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक कथावस्तु जहाँ अपने सीधे-सादे रूप में रहती है, लोकगाथा मे गिनी जाती है, किंतु जैनियों के यहाँ उनकी धर्म-कथा का आधार बनकर वही एक विचित्र रूप धारण कर लेती है। उदाहरण के लिए सद्यवत्स सावलिंगा की जो प्रेमकथा राजस्थानी भाषा में मिलती है, वह एक शुद्ध प्रमाख्यान के रूप मे प्रचलित है, किंतु उसी का गुजराती रूपांतर जैन रचयिताओं के हाथ में पड़कर वृहदाकार धारण कर लेता है, और श्रावक धर्म के उपदेश का साधन भी बन जाता है।

इसी प्रकार एक दूसरे ढंग का उदाहरण हमें तमिळ साहित्य में मिलता है जहाँ जैन कवि इलंगो द्वारा निर्मित शिलप्यदिकारम् में कण्णकी एवं कोवलन की कथा अपने पूर्वार्द्ध में, एक सुन्दर लोकगाथा के रूप में चलती है किंतु अपने मणिमेखलै वाले उत्तरार्द्ध रूप में शाहनार कवि के हाथों में पड़ कर बौद्ध धर्म के प्रचार का साधन बन जाती है और उसमें वह सरलता नहीं रह पाती।

लोक गाथाएँ जहाँ कहीं भी अपने विशुद्ध प्रारंभिक रूपों में पायी जाती हैं, अत्यंत मार्मिक और मनोहर कही जा सकती हैं। राजस्थान गुजरात, पंजाब, काश्मीर तथा अन्य कई प्रांतों की भाषाओं में ऐसी रचनाएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। राजस्थानी का 'ढोला मारूरा दूहा' नामक प्रमाख्यान एक ऐसी ही प्रेमगाथा के उदाहरण मे दिया जा सकता है। इसके प्रेमी एवं प्रेमिका के निश्छल उद्गार, उनका निर्विकार भोलापन तथा उनकी आस्था और उत्साह से भरे सरल प्रयत्न हमें अपनी ओर बरबस खींच लेते हैं, हम उनकी जीवन यात्रा में उनके साथ चलने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं और उनकी हल्की से हल्की चेष्टा भी हमें प्रभावित किये बिना नहीं रहती।

ढोला मारूरा दूहा पर अपभ्रंश एवं चारण काल की प्रभाव स्पष्ट है और यह अपने ढंग की अद्वितीय प्रेमगाथा है। ससि व पून्नो, हीर व रॉझा, मैनासत, माधवानल कामकंदला आदि भी प्रायः इसी वर्ग में आती हैं, और ये भी अपने अपने क्षेत्रों में उसी प्रकार लोकप्रिय हैं। माधवानल कामकंदला की प्रेमगाथा के तो अनेक रूप प्रचलित हैं और उसमें कई आवश्यक परिवर्तन भी हो चुके हैं। किंतु उसकी मूल कथावस्तु को पहचान पाने में विशेष विलंब नहीं लगता और यही बात अन्य अनेक लोक गाथाओं में भी चरितार्थ की जा सकती है। इन लोकगाथा परक प्रेमाख्यानों में न तो पात्रों का बाहुल्य होता है और न इनकी विविध घटनाओं मे ही कोई जटिलता आ पाती है। इनके कथानक का क्रमिक विकास आप से आप स्वाभाविक ढंग से होता चला जाता है और इनके बीच वाले वर्णन भी अधिक बाधक नहीं होते।

लोक गाथा का प्रभाव

यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो बहुत से साहित्यिक प्रेमाख्यानों को भी हम किसी न किसी लोकगाथा से ही प्रभावित पायेंगे। साहित्यिक प्रेमाख्यानो में से जिनकी कथावस्तु काल्पनिक है उनका सांचा इन लोकगाथाओं जैसा ही निर्मित रहा करता है, जो पौराणिक है उनमें सजीवता लाने के लिए हमें इन प्रचलित प्रेम कहानियों का ही रंग भरना पड़ता है। यहाँ तक कि जो प्रेमाख्यान ऐतिहासिक घटनाचक्रों पर आश्रित हैं, और जिनके पात्र कभी जीवित रह चुके हैं, उन पर भी इनके रोमांस की पालिश चढ़ानी ही पड़ जाती है।

बहुत से ऐतिहासिक पात्रों पर इन आख्यानों का रंग इतना गाढ़ा चढ़ जाता है कि वे वास्तविक व्यक्तियो को अपदस्थ से कर देते हैं और सर्वसाधारण के मानस पटल पर उनकी छाप सदा के लिए अमिट बन जाती है। उदाहरण के लिए पद्मिनी के प्रेमाख्यान में हमें जिस अलाउद्दीन के दर्शन होते हैं उसका पता इतिहासकारों की रचनाओं मे नहीं चलता।

उनमें केवल थोड़े ही संकेत भर मिलते हैं जिनकी प्रामाणिकता के विषय में अभी आज तक विवाद है। पृथ्वीराज एवं संयोगिता की कहानी जिस रूप में गढ़ी जा चुकी है उसका पाना किसी भी इतिहास ग्रंथ में दुर्लभ है, किंतु वही रूप हमारे लिए अधिक सजीव है।

प्रेमाख्यानों का एक रूप हमें वीरगाथा काल की प्रेमकथाओं में भी मिलता है। इसमें कोई राजपुरुष अथवा बादशाह किसी सुंदरी का वर्णन सुन कर उसकी ओर आकृष्ट होता है और उसे पाने के लिए अनेक प्रयत्न करने लग जाता है। उसके यहाँ दूत भेजना, प्रलोभनो का साधन उपस्थित करना तथा उसके पति एवं पिता को धमकाना आरंभ हो जाता है। इसके लिए अनेक राजनीतिक दाँव-पेंच खेले जाते हैं। धोखेबाजी की जाती है, और बहुत से भीषण युद्ध भी किये जाते हैं। ये प्रयत्न प्रेमियों के लिए न केवल अपनी मान मर्यादा के प्रश्न खड़े कर देते हैं, अपितु इन पर जीवन-मरण तक निर्भर हो जाता है और वे अपनी सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से अपना सभी कुछ बलिदान कर देते हैं।

किंतु ऐसे प्रेमाख्यानों मे सदा एकातिक प्रेम ही काम करता नहीं जान पड़ता और न इनका पूरा प्रभाव सदा सभी प्रेम पात्रियो पर एक समान लक्षित हुआ करता है। ऐसे प्रसंगों में शुद्ध प्रेम का स्थान अधिकतर कामुकता ले लिया करती है और प्रेमाख्यान का रूप केवल गौण बन कर ही रह जाता है। मुस्लिम शासकों से सबंधित अथवा बहुत से राजपूत राजाओं पर आश्रित प्रेमाख्यानों के विषय में यह बात पूरे तौर से लागू होती है।

नवीन पद्धति का सूत्रपात्र

सूफियों के भारत में आकर अपना मत प्रचार करने लगने पर एक किंचित् नवीन प्रेमाख्यान पद्धति का सूत्रपात्र हुआ। सूफी लोग प्रेम की पीर को प्रश्रय देते थे और वे इश्क मजाजी में भी इश्क़ हक़ीकी का बीज पाया करते थे। इसलिए उन्होंने भारतीय प्रेमाख्यान की प्रचलित परंपराओं का सूत्र पकड़ कर उसे अपने 'मजहबी नुक्ते नज़र' के अनुसार

मोड़ने के प्रयत्न किये। उन्होने बहुत से ऐसे प्रेमाख्यानों को अपनाना आरंभ किया जो अत्यंत लोकप्रिय थे और उन्हें उपमिति कथाओ के रूप दे दिये। उन्होंने कई एक ऐतिहासिक एवं अर्द्ध पौराणिक प्रेम-कथाओं को भी लिया और उन पर अपना रंग चढ़ाया।

इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होने प्रेम कथाओं की कथावस्तु का विकास अपनी प्रेम साधना पद्धति के समानांतर करना चाहा। यह एक ऐसा प्रयत्न था जिसमें पूरी सफलता का पाना बहुत कठिन था और इसीलिए वे सभी पूर्णतः कृतकार्य भी नहीं हो सके। फिर भी विरह यातना, कष्ट सहन, तथा सौंदर्यादि के अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों द्वारा उन्होने प्रेम साहित्य के एक नवीन अंग की पूर्ति कर दी और अपनी इस्लामी विचारधारा के मनोरम चित्रों का अंकन कर उन्हें भारतीय साहित्य में एक गौरवपूर्ण स्थान दिला दिया। उनका परमात्मा को प्रियतमा मान कर चलना, विरह को प्रेम से भी अधिक महत्व देना तथा एक रचना पद्धति विशेष को अपनाकर उसे अधिकाधिक प्रचलित करने में प्रयत्नशील होना भारतीय न होने पर भी आज स्थायी रूप ग्रहण कर चुका है।

भारतीय सूफ़ियों का सांस्कृतिक योग

भारतवर्ष एक बहुत बड़ा देश है और इसका इतिहास भी कम पुराना नहीं है। इसके निवासी चिरकाल से ही बाहर के लोगों के साथ संपर्क रखते आये हैं और आचार-विचार के विषय में, उनमें इनका बराबर आदान-प्रदान भी होता रहा है। इसलिए यहाँ के लोगों की संस्कृति क्रमशः बहुरंगिनी बनती चली आयी है और इसकी सबसे बड़ी विशेषता इसके सश्लिष्ट होने में ही दीख पड़ती है। क्या भाषा-भाव, क्या मत मतांतर, क्या कला-उद्योग, क्या रहन-सहन, क्या प्रथा-परंपरा, क्या पर्व-त्योहार और क्या उत्सव-मनोरंजन—यदि हम इन पर कुछ भी ध्यान देकर विचार करें तो—इसके इन सभी अंगों में एक विचित्र वैविध्य प्रतीत होगा और यह पंचमेल भी केवल रूपगत मात्र ही नहीं है। इसकी बहुत सी बातें हमें मानवसमाज के उन स्तरों तक की ओर भी संकेत करती जान पड़ती हैं जो अभी तक अर्द्धविकसित कहे जाते हैं। बात यह है कि हमारा संपर्क, कभी न कभी, अर्द्धसभ्य आर्येतर जातियों से लेकर पूर्णसभ्य एवं प्रगतिशील आधुनिक राष्ट्र तक से रहता चला आया है और हमारी वर्तमान संस्कृति के निर्माण एवं विकास में उन सभी ने अपना-अपना हाथ बँटाया है। इसके सिवा, भारतीय संस्कृति के अंतर्गत हमें विभिन्न विषमताओं का केवल समाहार ही नहीं लक्षित होता। इसके भीतर उन सभी का कुछ न कुछ परिमार्जन भी होता आया है और तदनुसार उन पर सामंजस्य और समन्वय का रंग भी चढ़ता गया है।

सूफी लोगों का प्रवेश इस देश में, पहले पहल, ऐसे समय हुआ जब इसके प्राचीन युग का प्रायः अंत हो चुका था। उस समय तक इसके मध्य-युग का, वस्तुतः आरंभ भी हो चुका था और भारतीय समाज उसके लिए तैयारियों में लगा हुआ था। इसकी चिरकालीन भावनाओं पर उस

समय तक बौद्ध एवं जैन धर्मों की श्रमण संस्कृति का प्रभाव पूर्णरूप से पड़ चुका था और तंत्रवाद एवं योगवाद के अधिकाधिक प्रचार ने इसकी धार्मिक मनोवृत्ति में बहुत कुछ परिवर्तन भी ला दिया था। अपनी स्थिति पर एक बार पुनर्विचार करने की चेष्टा में प्राचीन दार्शनिक ग्रंथों पर विभिन्न भाष्यों की रचना आरंभ हो गयी थी और नवीन युग के आदर्शों पर समाज का पुनः संगठन करने के लिए, विविध निबंधों एवं स्मृतियों द्वारा व्यवस्थाएँ भी दी जाने लगीं थीं। इस प्रकार भारतीय लोग, उस समय तक, अपनी परंपरागत रूढ़ियों और स्वीकृतियों को समझने और सँभालने की ओर पूर्णतः अग्रसर हो चुके थे और इसके लिए प्रयत्न करते समय, उनकी प्रवृत्ति का झुकाव क्रमशः लोकोन्मुख भी होता जा रहा था। फलतः ऐसे ही वातावरण ने पीछे सर्वजनोपयोगी भक्तिविषयक आंदोलनों का मार्ग प्रशस्त किया और इसी ने देश मे प्रचलित अपभ्रंशों के आधार पर, विविध लोकभाषाओं को जन्म देकर उन्हें प्रश्रय और प्रोत्साहन भी प्रदान किया। सूफ़ियों के इस समय आ जाने के कारण हमारे इस सांस्कृतिक विकास में एक नवीन स्फूर्ति का संचार हुआ और उन्होंने इसके निर्माण कार्य में योगदान भी दिया।

सूफ़ियों का संप्रदाय इस्लाम धर्म का एक अंग था और उस पर 'कोरान शरीफ़' तथा हज़रत मुहम्मद के जीवन का गहरा प्रभाव था। किंतु उसके प्रमुख प्रचारकों ने, अपने दृष्टिकोण को अधिक व्यापक बनाये रखने की चेष्टा में, उसमें बहुत सी ईसाई, नव अफ़लातूनी, बौद्ध, पारसी एवं हिन्दू मान्यताओं का भी समावेश कर लिया था। तदनुसार, उसका भी रूप कुछ न कुछ समन्वयात्मक ही हो गया था, और उनके प्रचार कार्य की आकर्षक शैली के भी कारण, उसके लोकप्रिय बन जाने में उतनी कठिनाई नहीं पड़ी। फलतः भारत में इस्लाम धर्म का स्थायी प्रभाव जितना इसके द्वारा पड़ा उतना मुस्लिम शासकों की बलपूर्वक धर्मांतरित करने वाली नीति के सहारे भी, नहीं पड़ पाया। यदि सच पूछा जाय तो भारतीय इस्लाम धर्म का वर्तमान रूप भी अधिकतर उन

सूफियों की ही देन है। सूफियों ने यहाँ आकर भारतीय विचारधारा पर अपना प्रभाव डाला, नवीन धार्मिक आंदोलनों को अनुप्राणित किया और भारतीय समाज के नव विकसित रूप तथा लोकभाषा-साहित्य के निर्माण में भी अपना सहयोग प्रदान किया।

भारतीय समाज का तात्कालीन रूप विभिन्न जातियों के एक न्यूनाधिक विशृंखलित समुदाय मात्र का था। इसका प्रत्येक अंग अपनी-अपनी मान्यताओं के लिए स्वतंत्र था और उनमें से किसी में न तो सामूहिक एकता की भावना थी और न वह इसे आवश्यक मानता था। धार्मिक विश्वासों और साधनाओं का भी रूप यहाँ पर प्रायः व्यक्तिगत ही था सामुदायिक नहीं था। परतु इस्लाम-धर्म के इन सूफी अनुयायियों ने जब संघबद्ध धर्माचरण पर विशेष बल देना आरंभ किया तो, इनके प्रचार कार्य की प्रतिक्रिया में यहाँ के लोगों के भीतर भी क्रमशः 'हिंदूपन' का भाव जागृत होने लगा और इनके सामने किसी न किसी प्रकार की सामूहिक एकता का एक धुंधला आदर्श निर्मित होने लगा। धर्मशास्त्रों के पंडित विविध जातियों और सप्रदायों के लिए सर्वसम्मत नियम ढूँढ़ निकालने के प्रयत्न करने लगे और सभी हिंदुओं के लिए लगभग एक ही प्रकार के पर्व-त्योहार, व्रत-उपवास एवं संस्कारों के लिए समुचित व्यवस्था करने के उद्देश्य से, शास्त्रीय वचनों की चर्चा एवं व्याख्या भी की जाने लगी। इसी प्रकार भक्ति-मार्ग के अनुयायियों में कहीं-कहीं पर सामूहिक प्रार्थना की परपरा भी, उनके अनुकरण में, चल निकली और सबका एक साथ मिलकर भजन एवं कीर्तन भी होने लगा।

सूफियों के कारण भारतीयों की गुरुभक्ति विषयक भावनाओं में भी एक बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। भारतीय विचारधारा के अनुसार किसी गुरु के प्रति प्रदर्शित की जाने वाली भक्ति, विशेषतः उसके द्वारा शिक्षा प्राप्त शिष्य की ओर से ही, देखी जाती थी। यह उसे कभी-कभी अपने पिता से भी बढ़कर समझा करता था और दार्शनिक उपदेशों का प्रदाता गुरु 'यथादेवे तथा गुरो' के अनुसार देव तुल्य भी हो जाता था शिष्य

वा साधक ऐसे गुरु के निकट 'नमित्पाणि' होकर जाना था और 'परिप्रश्न' तथा 'सेवा' द्वारा उससे रहस्यों का ज्ञान उपलब्ध करता था। परंतु सूफ़ियों की धारणा के अनुसार प्रत्येक धर्मोपदेशक पीर में मानवत्व के साथ ही देवत्व की भावना भी अंतर्हित रहा करती थी। वह स्वयं देव रूप हो जाया करता था और उसका प्रत्येक मुरीद उससे आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त करता हुआ उसके साथ एक ऐसी आनुवंशिक शृंखला निर्मित कर देता था जिसकी सभी कड़ियाँ तत्वतः एक और अभिन्न थीं। सूफ़ियों की इस मान्यता का भी पूरा प्रभाव पड़ा। शांकराद्वैतवाद के अनुयायियों ने स्वामी शंकराचार्य को स्वयं शिव का रूप मान लिया और विशिष्टाद्वैत के आचार्यों तथा आळवारों की मूर्तियों की पूजा स्वयं विष्णु की भाँति, सांप्रदायिक मंदिरों में होने लगी। इसके सिवाय इन दोनों संप्रदायों के प्रधान मठों में क्रमशः शंकराचार्यों तथा रामानुजाचार्यों की परंपराएँ भी चल निकलीं और वे आज तक वर्तमान हैं।

इसी प्रकार सूफ़ियों की प्रेमतत्व संबंधी धारणा का भी प्रभाव यहाँ पर बिना पड़े नहीं रह सका। भारतीय प्रेमभाव का रूप पहले शुद्ध मानवीय मात्र था और उसकी गति ईश्वरोन्मुख नहीं थी और न उसे आध्यात्मिक स्तर तक पहुँचाने की कभी कल्पना भी की जाती थी। सूफ़ियों ने ही यहाँ पहले पहल 'इश्क़ मजाज़ी' तथा 'इश्क हक़ीक़ी' की सात्विक एकता का आदर्श सबके सामने रखा। उन्होंने अपने यहाँ की प्रेमगाथा-शैली के सहारे इस बात को सिद्ध करने का सफल प्रयत्न भी किया कि पार्थिव प्रेम किस प्रकार ईश्वरीय बन सकता है। यह अवश्य है कि सूफ़ियों के आदर्शानुसार केवल पुरुष की ओर से स्त्री के प्रति प्रदर्शित किये जाने वाले प्रेम को ही अधिक महत्व दिया जाता रहा और इसी बात को ये ईश्वरीय प्रेम के संबंध में भी घटाने की चेष्टा करते रहे। किंतु इसके कारण यहाँ पर कोई बाधा नहीं पड़ सकी और भारतीयों ने अपने, स्त्री की ओर से पुरुष के प्रति व्यक्त किये जाने वाले प्रेम के आदर्श का निर्वाह दाम्पत्य भाव की भक्ति का एक ऐसा मार्ग निकाल कर, जिसके अनुसार

केवल परमात्मा ही एक मात्र पुरुप समझा गया और सभी आत्माएँ उसकी नारी मान ली गईं। इसके सिवाय भारत में जहाँ स्वकीया का प्रेम अधिक महत्व रखता था और परकीया संबधी प्रेमभाव को उससे निम्नतर कोटि मे स्थान दिया जाता था वहाँ सूफ़ियो की प्रेमपद्धति के अनुसार, इन दोनों की ही महत्ता एक समान स्वीकार कर ली गई।

सूफ़ियों के प्रेमादर्श का परिणाम यहाँ पर एक दूसरे ढंग से भी दीख पड़ा। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के लगभग उत्तरी भारत में निर्गुणोपासक संतो की एक परपरा चल निकली जिनकी बहुत सी बातें सूफियों के सिद्धांतो से मिलती-जुलती थी। इन सतों ने भी सूफ़ियों की ही भाँति निराकार परमात्मा को अपनी प्रेम लक्षणा भक्ति का लक्ष्य बनाया और, उस अशरीरी प्रेमपात्र के साथ प्रत्यक्ष संयोग उपलब्ध न कर सकने की दशा ने, उन्ही के आदर्शानुसार, विरहावस्था का अधिक वर्णन भी किया। इतना ही नहीं संत कबीर साहब आदि की उपलब्ध रचनाओं को पढ़ने पर कभी-कभी ऐसा भी प्रतीत होता है कि इन लोगो ने उन सूफ़ियों का अनुसरण कई अन्य बातों मे भी किया था। कबीर साहब की रचनाओं के शीर्षको पर प्रसिद्ध सूफी फ़रीदुद्दीन अत्तार के ग्रंथ 'पंदनामः' का प्रभाव बतलाया जाता है[1]। इसी प्रकार गुरु नानक की उपासना के चार अगों—सरन खंड, ज्ञानखड, करमखड, एवं सचखंड—के आदर्श सूफ़ियो के शरीअत, मारिफत, उफवा तथा लाहूत नामक मुकामात समझे जाते हैं।[2] इसके सिवाय इन संतो ने, सूफ़ियो के ही सिद्धांतो के अनुकरण मे सृष्टि के उपादान कारण को 'नूर' की संज्ञा दी, इसके स्रष्टा को 'कर्ता' के नाम से अभिहित किया, अपने सद्गुरु को, हृदय को दर्पणवत् स्वच्छ एवं निर्मल कर देने वाला

1. Dr Tarachand : 'Influence of Islam on Indian Culture' p. 151
2. Do. p. 176

'सिकलीगर' ठहराया, भारतीयो के शास्त्रसंमत षड्रिपुओ में से केवल पॉच के ही नाम लिए और, उनकी शब्दावली के महत्वपूर्ण शब्दों को अपनाने मात्र से ही संतोप न कर, बहुधा अशिक्षित होने पर भी फ़ारसी भाषा मे पद्यरचना का प्रयास किया। इन संतो मे से कई एक का प्रत्यक्ष संबंध भी किसी न किसी सूफ़ी के साथ बतलाया जाता है। गुरु नानक एवं शेख़ फ़रीद के बीच गाढ़ी मैत्री थी, संत दादूदयाल को आध्यात्मिक प्रेरणा प्रदान करने वाले शेख़ बुड्ढन सूफ़ियों के कादिरी सप्रदाय के एक प्रसिद्ध पीर थे, संत बाबालाल के साथ सत्संगो के ही परिणाम स्वरूप शाहजादा दारा शिकोह को 'मारिफ़त' का राज हासिल हुआ था और इसी प्रकार सूफ़ी पीरों के वातावरण में आने के कारण, सत प्राणनाथ, रामचरन एवं दरिया साहब (बिहारी) की विचारधारा में इस्लामी धारणाओ का प्रवेश हुआ था और उन्होंने अपने अनुयायियो मे इनका प्रचार भी किया था।

सूफ़ियो की विचारधारा तथा साधना-पद्धति आदि का प्रभाव दक्षिणी एवं पूर्वी भारत पर भी कम नहीं पड़ा। स्वामी रामानुजाचार्य की प्रपत्ति विषयक भावना के मूलस्रोत का पता लगाते समय बहुत से विद्वान इस्लाम शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ आत्मसमर्पण की भी ओर सकेत करते हैं और इसी प्रकार लिगायत शैवो के जगद्गुरु सूचक शब्द 'अल्लामा प्रभु' का साम्य अरबी भाषा की शब्दावली में ढूँढ़ा करते हैं। इन वैष्णव एवं शैव संप्रदायों की ओर से वर्णाश्रमधर्म की संकीर्णता का परित्याग किये जाने का श्रेय भी सूफ़ियों के प्रभाव को ही किया जाता है। लिंगायतो ने अपने संप्रदाय के सर्वप्रथम प्रचारक बसव को स्वयं शिवरूप मे स्वीकार किया और उनके प्रथम चार उत्तराधिकारियो अर्थात् रेवान, मरूल, एकोराम एवं पण्डित को भी हजरत मुहम्मद के चार इमामो की ही भाँति, लगभग उतना ही महत्त्व प्रदान किया। इन लिंगायतो का अपने अल्लामाओं के नेतृत्व में अधिक से अधिक आस्था रखना और युद्धादि तक में प्रवृत्त होना भी इसी बात को सिद्ध करता है।

पूर्वी भारत के वंगदेशीय 'धर्मसंप्रदाय' के ग्रंथ 'शून्यपुराण' में एक आख्यान मिलता है जिसके अनुसार जिस समय ब्राह्मणों ने सर्वसाधारण के ऊपर अपना अत्याचार आरंभ किया उस समय सबकी रक्षा के लिए 'धर्म' स्वयं वैकुण्ठ से चल पड़े और यहाँ आते समय उन्होंने एक मुस्लिम का रूप धारण करके अपना नाम 'खोदा' रख लिया और सभी देवों ने भी ऐसा ही किया। इस प्रकार की भावनाओं द्वारा प्रभावित होने के ही कारण वहाँ की जनता में 'सत्यपीर' की भी उपासना स्वीकार की थी और महाप्रभु चैतन्य द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय की एक शाखा के रूप में 'कर्ताभाजा' लोगों का पंथ प्रचलित हुआ था। इन कर्ताभाजाओं के मतव्यानुसार ईश्वर एक मात्र है जो कर्ता के रूप में अवतरित होता है, महाशय अर्थात् सद्गुरु को ही सर्वेसर्वा मानना चाहिए, साम्प्रदायिक मंत्र का पाठ दिन में पाच बार नियमित रूप से करना चाहिए, शुक्रवार को अधिक महत्व देना चाहिए और प्रेमाभक्ति ही एक मात्र ऐसी साधना है जिसके द्वारा अंतिम सांप्रदायिक लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है और ये सभी बातें सूफ़ियों के ही अनुकरण मे स्वीकृत थीं इसके सिवाय बंगाल के सहजिया वैष्णवों की प्रेमसाधना तथा वहाँ के बाउलों की रहनी अर्थात् आध्यात्मिक जीवन के आदर्शों का निर्माण भी ठीक सूफ़ियो की भावधारा के ही अनुकूल हुआ था और इन दोनो का प्रचार वहाँ पर सफल रहा।

बंगाल के इन धार्मिक आंदोलनों ने जिस प्रकार यहाँ की जनता में हिंदू मुस्लिम ऐक्य की भावना प्रचलित की उसी प्रकार भारत के सुदूर उत्तर काश्मीर प्रांत मे भी वहाँ के शाह हमदान, मख़दूम शाह, शेख़ नूरुद्दीन आदि सूफ़ियों ने अपना प्रभाव डाला। वहाँ की प्रसिद्ध स्त्री संत लालदेद का शाह हमदान के साथ मित्रता का भाव था और उन दोनो ने इस भावना के प्रकार में सहयोग किया। काश्मीर की 'मियाँ राजपूत' जैसी कई जातियों की उत्पत्ति भी ऐसे ही कारणों से हुई थी। इसी प्रकार सूफ़ी संतों द्वारा ऐक्य भावना का प्रचार भारत के सुदूर पश्चिमी प्रदेश सिंध

में भी हुआ था और उसके कारण वहाँ पर सांप्रदायिक संकीर्णता का प्रायः लोप हो गया था। शाह लतीफ़ और सचल जैसे सूफ़ियों ने वहाँ पर ऐसा मंत्र फूँका जिसके प्रभाव में वहाँ की भाषा एवं भाव दोनों में प्रचुर उदारता आ गई। भारतवर्ष के अंतर्गत पूर्वी बंगाल काश्मीर एवं सिंध ही ऐसे तीन प्रदेश थे यहाँ पर हिंदू एव मुस्लिम समाजों में अत्यंत कम अंतर रहा।

भारत के साहित्य, संगीत एव अन्य ललित कलाओं पर भी सूफ़ियों का प्रभाव उपेक्षणीय नहीं है। हिंदी भाषा के संत साहित्य पर पड़े हुए इनके प्रभाव का उल्लेख अभी कुछ ही पहले कर चुके हैं। सूफ़ियों ने इस भाषा के लिए जो एक पृथक् प्रेमगाथा साहित्य का निर्माण किया है उसका महत्त्व भी इसके किसी भी अन्य वांग्मय से कम नहीं। मुल्ला दाऊद से लेकर अभी विक्रम की बीसवीं शताब्दी तक के सूफ़ी कवियों ने इसे एक से एक अनमोल रत्न प्रदान किये हैं। भारत के फ़ारसी एवं उर्दू साहित्यों से तो यदि सूफ़ी भावनाएँ तथा सूफ़ी शब्दावली निकाल दी जाय तो उनमें कुछ रह ही नहीं जाता। लहदी, सिंधी, पंजाबी, एवं काश्मीरी साहित्यो मे भी जो कुछ ठोस और आकर्षक है वह अधिकतर इन सूफ़ियों की ही देन है। सूफ़ियों ने भारतीय संगीत की परंपरा को भी क़व्वाली, गजल, ख्याल, एव अन्य इस प्रकार के गति एव तर्ज़ दी है। भारतीय शिल्प के लिए उन्होंने जो कब्रों और समाधियों के सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किए हैं वे इस देश के लिए गौरव की वस्तु है।

सूफ़ियों के इस प्रकार हमें स्थायी रूप से प्रभावित करने का वास्तविक रहस्य इस बात मे निहित था कि उन्होंने यहाँ आकर हमारी सभी बातों को पहले समझने का प्रयत्न किया और उनमे से बहुतों को अपनाकर हमारे समान ही होने की भरपूर चेष्टा भी की थी।

भारतीय संतों का सांस्कृतिक योग

संतों की परंपरा का सूत्रपात यहाँ पर उस काल में हुआ जब कि इस देश के इतिहास का प्राचीन युग समाप्त हो चुका था। उस समय तक उसके मध्य-युग का भी आरंभ हो गया था और यहाँ के निवासियों का ध्यान अपने विषय में एक बार पुनर्विचार करने की ओर क्रमशः अधिकाधिक आकृष्ट होता जा रहा था। भारतीयों की अनेक भावनाओं पर शताब्दियों से समय-समय पर आती रहने वाली विविध जातियों ने बहुत पहले से ही अपना न्यूनाधिक प्रभाव डाल रखा था और इस देश की श्रमण संस्कृति ने भी उनकी विचारधारा मे अनेक परिवर्तन ला दिये थे। इसके सिवाय सम्राट् हर्ष के अनंतर उत्पन्न हुई राजनीतिक हलचलों के कारण उनकी सामाजिक दशा भी क्रमशः बदलती जा रही थी और उनके सामने अनेक नये-नये प्रश्न उठते जा रहे थे। इनमें कुछ तो ऐसे थे जिनका संबंध अपने समाज के पुनः संगठन से था जो विविध नवागत आदर्शों के आलोक में सामंजस्य बिठाने से ही पूर्ण हो सकता था और दूसरे इस प्रकार के थे जिनके अनुसार एक बार फिर विचार न कर लेने पर अपनी परंपरागत स्वीकृतियों का पूर्ववत् सँभालना किंचित् कठिन प्रतीत हो रहा था। अतएव एक ओर जहाँ उनकी प्रवृत्ति नयी स्मृतियों तथा निबंधो की रचना की ओर उन्मुख हो रही थी वहाँ दूसरी ओर यहाँ के दार्शनिक लोग अपने प्रमुख मान्य ग्रंथों को नये ढंग से समझने एवं समझाने की चेष्टा में विभिन्न भाष्यों तथा टीकाओं का निर्माण करते जा रहे थे और इस प्रकार एक सैद्धांतिक वातावरण की भी सृष्टि होती जा रही थी।

उपर्युक्त प्रयत्नों में उन्हें सबसे अधिक प्रेरणा उस समय मिली जब से यहाँ पर इस्लाम धर्म का भी प्रचार आरंभ हो गया और एक नितांत

भिन्न समाज एवं संस्कृति के संघर्ष में आ जाने के कारण उन्हें अपनी अनेक बातों में आमूल परिवर्तन लाने तक की समस्या का सामना करना पड़ गया। पहले के विदेशी यहाँ आने पर अपनी किसी न किसी विशेषता की केवल एक छाप मात्र ही डाल पाते थे और अंत में वे भारतीयों के साथ प्रायः घुलमिल भी जाया करते थे। किंतु इस्लाम धर्म के अनुयायियों की प्रकृति उनसे भिन्न थी। उनका न केवल अपना समाज ही सुसंगठित था अपितु वे लोग दृढ़ सांप्रदायिक भावनाओं द्वारा भी अनुप्राणित थे जिस कारण उनके सपर्क में आ जाने पर भारतीय समाज को उनकी कई बातों द्वारा आप से आप प्रभावित हो जाना पड़ता था और वे बहुधा उनको झकझोर तक दिया करती थीं। उनकी एकेश्वर-वादी भावना, सामाजिक भेदभाव विहीनता तथा धार्मिक समानता के वैशिष्ट्य ने यहाँ की दलित, परिगणित एवं पिछड़ी हुई जातियों में एक नवीन आशा का संचार कर दिया जिससे उनमें नव जागरण एवं स्वाव-लंबन का भाव उठने लगा और इसकी प्रतिक्रिया में यहाँ के उच्च-वर्गीय लोगों को भी अपने नियंत्रण के नियम बहुत कुछ ढीले करने पड़ गये। फलतः भारतीय समाज की सामूहिक मनोवृत्ति का झुकाव क्रमशः लोकोन्मुख होता गया तदनुसार यहाँ धार्मिक क्षेत्र में भक्ति-साधना का आंदोलन चला और साहित्य रचना के क्षेत्र में भी लोक-भाषाओं का व्यवहार अधिक वेग के साथ होने लगा और उसमें निम्नवर्ग तक के लोग भी स्वभावतः सहयोग प्रदान करने लगे।

संत परंपरा की प्रतिष्ठा, सर्वप्रथम, ऐसे ही वातावरण में हुई जिस कारण संतों ने इस प्रकार के प्रायः प्रत्येक आंदोलन में सक्रिय भाग लिया और अपनी अटपटी बानियों द्वारा सर्वसाधारण की चेतना को पुनर्जाग्रत कर भारतीय संस्कृति के विकास में अपना हाथ बँटाया। संतों के पहले से ही सिद्ध, नाथ पंथी, जैन मुनि, आळ्वार एवं कतिपय सूफ़ी जैसे क्षेत्रों में काम करते आ रहे थे। वे भी अधिकतर समाज के निम्न-वर्गों में ही पले-पोसे रहते थे और, तात्कालीन वातावरण के कारण

उत्पन्न विचारस्वातंत्र्य द्वारा प्रेरणा ग्रहण कर समयोचित विचार प्रकट किया करते थे। सिद्धों का पृष्ठाधार बौद्धधर्म का महायान संप्रदाय था जिसके विकसित रूप वज्रयान एवं सहजयान की साधनाओं का वे अनुसरण करते थे तथा नाथ पंथी एवं जैनमुनि भी, इसी प्रकार, क्रमशः अपने मूल शैव और जैन धर्मों की साधनाओं का ही अवलंबन अधिक श्रेयस्कर समझते आ रहे थे। वैष्णव आळ्वारों की भक्ति का रूप भी प्रधानतः षोडशोपचार पूजा से ही समन्वित रहा और मुस्लिम सूफी अपने "इश्क हक़ीकी' की धुन में निरत रहने को सर्व साधारण के लिये भी सर्वोच्च साधना मानते आये। इन पांचो में से कोई भी अपने मूलाधार की सांप्रदायिकता का मोह न छोड़ सका था और न वह तदनुकूल साधनाओं का पूर्ण परित्याग ही कर पाया था। वे सदा एक दूसरे को अपने से कुछ न कुछ भिन्न मानते आये थे और वे उसकी विशिष्ट साधना को भी उचित महत्व देना नहीं जानते थे। उनकी कार्य पद्धति मूलतः अपने-अपने सांप्रदायिक ढंगों से ही चलती रही और वे केवल प्रसंगवश ही कुछ ऐसे उद्गार प्रकट कर देते रहे जो उस अवसर के अनुकूल पड़ जाते थे। संतो ने इसके विपरीत न केवल उनकी विभिन्न साधनाओं में समन्वय लाने की चेष्टा की अपितु मानव जीवन के महत्व की ओर ध्यान देना भी अपना कर्तव्य समझा।

संतों का दार्शनिक दृष्टिकोण अत्यंत व्यापक था। वे साधारणतः अद्वैतवादी विचारधारा के समर्थक थे और तदनुसार वे परमात्मतत्व की एक मात्र सत्ता के साथ अपने को अभिन्न भी माना करते थे। उनकी समग्र साधनाओं का लक्ष्य, इसीकारण, केवल उस मनोदशा का उपलब्ध कर लेना मात्र था जिसके निरंतर एक समान बने रहने के फलस्वरूप उन्हें सदा अपनी उस एकता की अनुभूति होती रहे और उस तत्व के साथ तदाकारता ग्रहण करने की स्थिति में ही रह कर वे अपना जीवन भी व्यतीत कर सकें। इसके लिए उन्हें सबसे उपयुक्त साधना 'सुरति-शब्दयोग' की जान पड़ती थी, किंतु अपने उद्देश्य की पूर्ति में

यत्किंचित् सहायता करने वाली किसी भी अन्य साधना को वे कभी हेय नहीं समझते थे। वे योगियों के हठयोग, सूफ़ियो के प्रेमयोग तथा वैष्णवों के भक्ति योग जैसी साधनाओं के महत्व को भी एक समान स्वीकार करते थे और उन्हें भी अपना कर चलने में उन्हें न तो कोई आपत्ति थी और न उनका उन्होंने कभी परित्याग ही किया। फिर भी जैसी साधनाएँ उनके लिए केवल सहायक साधन मात्र थी और इन सभी के प्रयोगों का लक्ष्य वह आध्यात्मिक जीवन ही था जिसकी उपलब्धि को वे प्रायः 'जीवन्मुक्त' का अनुभव कहा करते थे। उनका यह जीवन साधारण समाज के बाहर बने रहकर कालयापन करना नहीं था और न इसमें किसी प्रकार की अलौकिकता का ही आना अनिवार्य था। उपर्युक्त दृष्टिकोण को स्थिर किये रहने पर अपनी प्रत्येक दैनिक चेष्टा के रूप में कायापलट लाया जा सकता था और इसी प्रकार किसी असाधारण से असाधारण स्थिति के भी आ जाने पर अपने को भली भाँति सँभाल लिया जा सकता था। इस दृष्टिकोण के कारण ही उन्होंने संपूर्ण जीवन को एक और अखड ठहराया था और उसके प्रत्येक पहलू की ओर समुचित ध्यान देना अपना कर्त्तव्य समझा था। उनके लिए जीवन में न तो किसी आर्थिक वा सामाजिक आधार पर भेदभाव का लाना आवश्यक था और न उनके सामने किन्हीं सामाजिक स्तरो की कल्पना का ही कोई मूल्य था।

इस प्रकार, संतों के सारे उपदेशों का निचोड़ निम्नलिखित पाँच वाक्यों द्वारा सक्षेपतः प्रकट किया जा सकता है—

(१) विश्व का मूल परमतत्व एक और अद्वितीय है तथा प्रत्येक व्यक्ति उससे तत्वतः अभिन्न है;

(२) उक्त अभिन्नता की अनुभूति अथवा इस प्रकार की स्वानुभूति, पर ही आदर्श आध्यात्मिक जीवन का निर्माण किया जा सकता है;

(३) आध्यात्मिक जीवन की सिद्धि के लिए अपना सर्वांग विकास अपेक्षित है और इसमें सहायक होने वाली कोई भी साधना अभिनंदनीय है;

(४) परंतु प्रत्येक दशा में अपनी अनुभूति, अभिव्यक्ति एवं आचरण में पूर्ण सामंजस्य का बना रहना भी अनिवार्य है; और

(५) इस प्रकार की व्यक्तिगत साधना द्वारा ही क्रमशः आदर्श मानव-समाज का निर्माण किया जा सकता है जिससे अंत में विश्व कल्याण भी संभव है। अथवा इसकी सफलता के आधार पर हो यदि चाहें तो भूतल को स्वर्ग के रूप में भी परिणत कर सकते हैं।

सतों की इन स्वीकृतियो में से प्रथम ने जहाँ साम्यभाव अथवा विश्व बधुत्व के आदर्श का मूल उत्स प्रतिष्ठित किया वहाँ उनकी दूसरी मान्यता ने प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान स्वावलम्बन के महत्व की ओर भी दिलाया। इसी प्रकार उनकी तीसरी धारणा के अनुसार हमारे दैनिक जीवन के प्रत्येक व्यापार का समुचित मूल्याकन आवश्यक समझा गया और चौथी के द्वारा हमें स्वयं व्यक्तिगत जीवन के ही वास्तविक विकास की सच्ची कसौटी मिल गई। इन चारों दृष्टियों के अनुसार जीवन-यापन करने वाले व्यक्ति स्वभावतः उस आदर्श मानव समाज के अंग हो जाते थे जो उनकी पाँचवी आस्था का आधार था।

भारतीय सस्कृति के दृष्टिकोण से परमात्मतत्व के प्रति अद्वैत भावना कोई नवीन बात नहीं था। प्राचीन काल से ही उपनिपदों द्वारा इसके सिद्धांत का प्रतिपादन होता आया था और इस देश के अनेक दार्शनिकों और विचारकों ने भी उसकी व्यख्या की थी। संत परंपरा का प्रारंभ होने के लगभग छः सौ वर्ष पहले स्वामी शंकराचार्य ने इसका निरूपण केवलाद्वैत की धारणा के अनुसार बहुत ही स्पष्ट शब्दों में किया और प्राचीन काल के ग्रंथों में उपलब्ध इस विपय के महकाव्यों में पूरी संगति बिठाते हुए, 'ब्रह्मसत्य' के साथ-साथ 'जगन्मिथ्या' का भी समर्थन किया। स्वामी शंकराचार्य के अनुकरण में अन्य अनेक आचार्यों ने भी इस प्रश्न पर गंभीर विचार किया और भारतीय दार्शनिक विचारधारा मे अद्वैतवाद को बहुत पीछे तक महत्व मिलता आया। परंतु इस प्रकार के तत्वचिंतन मे शास्त्रीय पद्धति की प्रधानता अक्षुण्ण रूप से बनी रही

और इसमें निरत महापुरुष एक विशिष्ट कोटि के व्यक्ति समझे जाते रहे उनका प्रमुख उद्देश्य अपने दार्शनिक जिज्ञासा की पूर्ति एवं धर्म ग्रंथों के विविध मतवादों में एकरूपता और पूर्ण सामंजस्य का स्थापित करना मात्र था। इसके सिवाय उस विचारधारा का एक परिणाम यह भी हो सकता था कि ऐसे चिंतनशील व्यक्ति अपने कोरे दार्शनिक प्रयासों के फल को ही अपने जीवन का अंतिम लक्ष्य भी मान बैठे और उसकी उपलब्धि से पूर्ण संतुष्ट होकर अपने समाज के निरे निष्क्रिय अंग ही बने रह जाँय व्यक्तिगत मोक्ष इस प्रकार के चिंतन एवं मनन का एक मात्र ध्येय बन गया था और 'ऐहिक' तथा 'आमुष्मिक' स्थितियों के बीच अत्यंत चौड़ी खाई की कल्पना कर ली गई थी। फलतः जहाँ ऐसे साधक की मनोवृत्ति अधिकतर आत्मकेंद्रित बनती जा रही थी वहाँ भारतीय संस्कृति की 'वसुधैव कुटुंबकम्' वाली भावना भी लुप्त हो रही थी।

संत परंपरा के लोगों ने अपने अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने के लिए कभी किसी प्राचीन ग्रंथ के वाक्यों का आश्रय लेना आवश्यक नहीं समझा। उन्हें अपने अर्द्धशिक्षित रहने के कारण किन्हीं शास्त्रीय सिद्धांतों के बीच कभी सुसंगति बिठाने का भी प्रयास करना नहीं पड़ा उनकी अद्वैत भावना का मूलस्रोत सत्संग एवं स्वानुभव में निहित था जिस कारण वह केवल कोरी मस्तिष्क की उपज मात्र न रहकर, उनके प्रत्यक्ष जीवन में भी अपना स्थान बना लेती थी। उसका रूप विविध तर्कों द्वारा अर्जित किये गये किसी 'दार्शनिक' ज्ञान के सदृश न था, प्रत्युत उनके हृदयों में जमे हुए धार्मिक विश्वास जैसा होता था। उसे वे न केवल किसी न किसी साधना द्वारा सदा एक रूप बनाये रखने में लगे रहते थे अपितु वे उसे अपने दैनिक जीवन के प्रत्येक व्यापार में बराबर घटाते भी रहा करते थे जिस कारण उसे साधारण 'आत्मज्ञान' की संज्ञा न देकर 'स्वानुभूति' कहना ही अधिक उचित होगा। इसमें संदेह नहीं कि इन दोनों का लक्ष्य भव बंधनों से मुक्ति पा लेना था, किंतु एक में जहाँ वह योग द्वारा शरीर त्याग करने पर मिलती थी वहाँ दूसरी दशा में

वह जीवन काल में भी संभव थी। उसकी उपलब्धि के लिए कहीं किसी अन्य लोक में जाने की कल्पना भी आवश्यक न थी उसका आनंद जीते जी और यहीं रह कर भी उठाया जा सकता था। अतएव दार्शनिक साधक को जहाँ संत लोग उसे अपने 'सुरति-शब्द-योग' के द्वारा सदा अपने प्रत्यक्ष अनुभव में रखना चाहते थे जिससे उसकी दशा मे क्षण मात्र का भी परिवर्तन न होने पाये और वह अपने लौकिक व्यवहारों तक एक समान बनी रहे।

इस प्रकार की अद्वैतभावना के ही आधार पर कबीर साहब ने हिन्दू धर्म की व्यवस्था तथा उसके कारण उत्पन्न भेदभाव को अस्वाभाविक ठहराया था। उनका कहना था कि जब एक ही मूल से सब किसी की उत्पत्ति है और उस ज्योति की कल्पना सर्वत्र एक समान की जाती है तो फिर ब्राह्मण एवं शुद्र का पृथक् होना कहाँ सिद्ध है ? हिंदुओं ने न केवल इस प्रत्यक्ष एवं सीधी-सादी बात को भुला दिया हैं प्रत्युत इसके विपरीत छुआछूत सबंधी एवं विचित्र धारणा भी उन्होने बना ली है। कबीर साहब ने हिंदुओं की ऐसी मान्यताओं के खुले शब्दों में आलोचना की है और उन्हें अपनी भूल पर एक बार फिर विचार करने का उपदेश भी दिया है। इस समाजिक भेदभाव के ही समान उन्होने हिंदुओं तथा मुसलमानो के बीच दीख पड़ने वाले धार्मिक भेदभाव को भी हेय माना है। अपनी अद्वैत भावना के अनुसार वे यहाँ भी 'दुई जगदीश कहाँ ते आया', जैसे प्रश्न छेड़ देते हैं तथा 'राम रहीम करीमा केसव' की एकता एव अभिन्नता का प्रतिपादन करने लग जाते हैं। उनका यहाँ पर भी कहना है कि जब सभी मानवों की उत्पत्ति एक समान होती है और कोई भी किसी धर्म विशेष के चिह्न लेकर नहीं जन्म लेते तो वे भिन्न-भिन्न कैसे हुए ? इसी प्रकार वे इस भावना के अनिवार्य परिणाम को केवल मानव समाज तक ही सीमित न रखकर उसे पशुवध की हिंसा वृत्ति विषयक मूल तक ले जाते हैं और उसके आगे 'पाती पाती जीव' की घोषणा करते हुए मालिन को किसी मूर्ति पर चढ़ाने के लिए पत्र पुष्पादि तोड़ने से भी विरत करना

चाहते हैं। कबीर साहब तथा उन्हीं की भाँति अन्य संतों की भी दृष्टि में सारा विश्व तत्वतः एक और आत्मस्वरूप है और तदनुसार किन्हीं भी दो प्राणियों के बीच कृत्रिम भेदभाव की कल्पना करना अथवा किसी भी एक के प्रति हमारा दुर्भाव रखना नितांत अस्वाभाविक माना जा सकता है।

संतों ने एक ओर जहाँ भारतीय अद्वैतवाद के आधार पर उक्त प्रकार से एक सच्चे तथा स्वाभाविक साम्यवाद का प्रचार किया वहाँ दूसरी ओर इन्होंने इसके द्वारा यह भी संकेत कर दिया कि हमारे ध्येय सदा अपने सिद्धांत एवं आचरण के बीच पूरी संगति बिठाये रखने का ही होना चाहिए। हमारा जीवन अपने आदर्श के उतना ही अधिक निकट समझा जा सकता है और हम उसमें उतने ही सफल भी कहे जा सकते हैं जितना अधिक सामंजस्य हमारी 'कथनी' एवं 'करनी' में पाया जाता है और इसके अभाव का परिणाम कभी श्रेयस्कर नहीं होता। इसकी ओर पूरा ध्यान न दे सकने के कारण हम अपने समाज में किसी छली अथवा प्रपंची जैसा व्यवहार करने लग जाते हैं। अपनी धार्मिक साधनाओं के अवसरों पर कोरे ढोंग एवं वाह्याचार के फेर में पड़कर उनके वास्तविक लाभ से हाथ धो बैठते हैं और अपने व्यक्तिगत जीवन के विकास में कभी एक पग तक आगे नहीं बढ़ पाते। संतों ने इस विषय में हिंदुओं के लब्ध प्रतिष्ठ पंडितों और श्रद्धाभाजन योगियों तपस्वियों तथा संन्यासियों एवं मुसलमानों के पथ प्रदर्शक शेखों और मुल्लाओं को अपनी फटकारों का विशेष लक्ष्य बनाया क्योंकि ये ही लोग अपने-अपने धार्मिक समाजों के अगुए और आदर्श माने जाते थे। कबीर साहब ने यहाँ तक बतलाया कि ऐसे लोग धर्मग्रंथों के आप्त वाक्यों पर स्वयं पूरा विचार तक नहीं कर लेते और अपने स्वार्थवश उनके मनमाने अर्थ लगाकर बहुधा ऐसा काम कर डालते हैं जिनके कारण उन पुस्तकों के प्रति दूसरों की अश्रद्धा बढ़ जाती है। 'वेद' एवं कुरान के विषय में सहसा यह कह देना कि उनकी बातें झूठी हैं, कदापि उचित नहीं है। उनका इस प्रकार झूठी कहलाना

प्रायः इस बात पर आश्रित रहता है कि वे भली भाँति समझ नहीं ली जाती और न उन पर कभी पूरा अमल किया जाता है।[1] संतों ने ऐसी बातों को बार बार दुहराया और उन्हें कार्यान्वित करके भी दिखलाया।

संतों का जितना आग्रह किसी बात को अपने निजी अनुभव में लाकर उसे स्वयं परख लेने का था उतना उसके केवल 'आप्तवाक्य' होने के ही कारण उसका सहसा अनुसरण भी करने का नहीं था और इसी कारण वे धर्मग्रंथों पर एकांत निर्भर रहने का घोर विरोध किया करते थे। वे विचार-स्वातंत्र्य में पूरी आस्था रखते थे और इस दृष्टि से वे दोनों धर्मों की चिर प्रचलित प्रथाओं के पूर्ववत् कायम रहने के भी विरोधी थे। अंधविश्वास एवं रूढ़िवादिता हमारी चिंतनधारा की स्वाभाविक प्रगति मे प्रायः बाधक सिद्ध होती है और इन दोनों के कारण हमारे विकास में बहुत बड़ी रुकावटें आ सकती हैं। 'आप्तवाक्यों' का अंधानुसरण करते समय हमारा जितना ध्यान उनमें निहित सत्य की ओर नहीं जाता उतना उनके अक्षरों पर आश्रित शब्दार्थों में ही उलझा रह जाता है और ऐसे समय हम बहुधा यह भी भूल जाते हैं कि अमुक शब्द का प्रयोग वहाँ पर किस युग एवं परिस्थिति विशेष में किया गया होगा तथा ऐसा करते समय उसके मूल प्रयोक्ता का वास्तविक उद्देश्य क्या रहा होगा और फिर आज भी यदि उसका वही अर्थ लें तो वह कहाँ तक समीचीन ठहर सकता है। इसी प्रकार हम किसी परंपरागत प्रथा का निर्वाह करते समय भी कभी यह विचार नहीं कर लेते कि उसकी उपयोगिता आज भी पूर्ववत् बनी रह गई है वा नहीं। हिंदुओं तथा मुसलमानो के धार्मिक समाजों मे जो वेशभूषा और त्योहारों के ढङ्ग सदियों से प्रचलित हैं उनके वास्तविक मूल्य की कोई खोज नहीं करता। वे केवल इसी आधार पर अपना लिये जाते हैं कि ऐसा बहुत दिनों से होता चला आया है और उनके परित्याग से अपनी रूढ़िवादिता पर आघात पहुँचाता है।

---

[1] 'बेद कतेब कहहु मत झूठे, जो न विचारै", आदि ग्रंथ

संतों ने ऐसी बातों की ओर उक्त दोनों धर्मों के अनुयायियों का ध्यान आकृष्ट किया और इसके प्रति उपेक्षा प्रदर्शित कर मूल सत्य को अपनाने के लिए उनसे साग्रह अनुरोध भी किया।

संतों ने 'सत्य के पूर्ण रूप' को स्वीकार किया था जिस कारण जगत् की विभिन्न अनेकताओं में भी उन्हें सदा एकता का ही भास होता रहता था। फलतः जिस प्रकार उन्होंने 'दर्शन' की दृष्टि से अद्वैतवाद में आस्था रखी थी, 'धर्म' के अनुसार विविध प्रचलित संप्रदायों में समन्वय लाने की चेष्टा की थी। मानव समाज के अंतर्गत किसी भी प्रकार के बाह्य भेदभाव का आना असह्य माना करते थे उसी प्रकार अपने व्यक्ति जीवन की साधना को भी वे 'सर्वांङ्गीण' कहा करते थे। उनके अनुसार हमारे जीवन में कोई आर्थिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक वा अन्य किसी प्रकार के पृथक् विभाग नहीं कर सकते और न हमारी किसी क्षुद्रातिक्षुद्र चेष्टा का भी अपने जीवन के आध्यात्मिक रूप से भिन्न अस्तित्व में आना कभी कोई मूल्य रख सकता है। 'ब्रह्मचर्य' एवं 'अपरिग्रह' पर आवश्यकता से अधिक बल दिये जाने के कारण भारतीय समाज पर निवृत्ति मार्गियों का प्रभाव क्रमशः बढ़ता आया था और स्वामी शंकराचार्य के मायावाद ने सारे जगत् को ही मिथ्या ठहरा कर मानव जीवन की नीरसता तथा किसी अभीष्ट कैवल्यपद के परमानंद का चित्रण उनके सामने बड़े गहरे रंगों में कर दिया था। संतों ने इसका प्रभाव दूर करने के लिए कोरे निवृत्ति मार्ग एवं कोरे प्रवृत्ति मार्ग को केवल एकांगी और एक पक्षीय ठहराया और मध्यम मार्ग अपना कर विवेक के साथ समझ बूझ कर तदनुसार चलने का उपदेश दिया। इस प्रकार संतों के आदर्श व्यक्तिगत जीवन में एक ओर जहाँ साधारण कोटि के व्यक्तियों की सादगी थी वहाँ महान् विद्वानों का गंभीर चिंतन भी था और इसी के अनुसार एक ओर जहाँ अपने व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए पर्याप्त अवसर उपलब्ध था वहाँ विश्व के कल्याण की दृष्टि से अथक प्रयत्न भी किया जा सकता था।

संतों के विषय मे कभी-कभी पूछ दिया जाता है कि उन्होंने हमारे लिए क्या किया और इसके साथ संसार की वर्तमान त्रुटियों की ओर ध्यान भी दिलाया जाता है। प्रश्न यह है कि यदि वास्तव मे इन सतों ने हमारी दुरवस्था को पहचान पाया था और उसके सुधारों के लिए उचित परामर्श दिया था तो क्या कारण है कि आज तक उनके बहुमूल्य उपदेशों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा और सारी सासारिक बुराइयाँ जहाँ की तहाँ बनी रह गईं ? और, यदि इन सतो के प्रयत्नों द्वारा विश्व को कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं पहुँच सका तो फिर इन्होंने हमारे सास्कृतिक विकास मे ही कौन सा सहयोग प्रदान किया होगा ? यह प्रश्न अत्यत स्वाभाविक है और यह वस्तुतः इन संतों के कार्यों की परख के साथ-साथ इनकी अंतिम देन की जिज्ञासा भी जाग्रत करता है। इस प्रश्न का रूप ऐसा है जो इन संतो के अतिरिक्त विश्व के अन्य अनेक महापुरुषों, मनीषियों, धर्माचार्यों एवं सुधारकों के विषय मे भी लगभग एक ही प्रकार लागू हो सकता है। क्या कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसामसीह, जरथुस्त्र, मुहम्मद, कनफ्यूशिअस आदि महान् व्यक्तियों तथा उनके प्रसिद्ध अनुयायियों ने भी हमारे लिए कुछ किया है ? इनमे से किसी को भी हम ऐसा नहीं कह सकते कि उन्होंने विश्व के लिए कुछ न कुछ ठोस कार्य कर जाने के प्रयत्न नहीं किये। उन्होंने अपना सारा जीवन विश्व कल्याण की दृष्टि से अनवरत कार्य करते रहने मे ही व्यतीत किया और अंत मे वे कुछ ऐसे संदेश भी दे गये जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। परंतु क्या कारण है कि विश्व की प्रगति प्रत्यक्षतः अपने निजी ढंग से ही होती चली आ रही है और कभी कोई इसमें उनका आभार नहीं स्वीकार करता ? फिर इसमे कौन सा रहस्य निहित है कि उक्त सभी महान् व्यक्तियों का प्रभाव उनके प्रादुर्भाव के पीछे केवल कुछ समय तक ही स्पष्ट दीख पडा ? उनके अनुयायियों की संख्या मे प्रायः वृद्धि होती रहने पर भी उनके वास्तविक संदेशों के महत्त्व में क्रमशः कमी आती गई और वे उपेक्षणीय तक बन गये ?

यह प्रश्न साधारण प्रश्नों जैसा नहीं है और इसकी अपूर्व गंभीरता इसकी कतिपय विशेषताओं पर निर्भर है जिन पर ध्यान दे लेना अत्यत आवश्यक है। इस प्रश्न का सबंध संपूर्ण विश्व से है जिसके विषय मे अतिम ज्ञान का दावा करना कभी युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। इस सबध मे अभी तक जो कुछ परिणाम निकाले जा सके हैं वे अधिकतर तर्क, प्रयोग एव अनुमान जैसे साधनो पर ही आश्रित हैं जिनकी पहुँच स्वभावतः सीमित हो सकती है। इसके सिवाय यदि विश्व को सदा प्रगतिशील मान कर चला जाय तो इसके समझ पाने में एक दूसरी कठिनाई का भी सामना करना पड़ जाता है। निरतर परिवर्तनशील वस्तु के किस रूप विशेष को ध्यान में रखकर उस पर विचार किया जाय? विश्व के विकास का नियम विभिन्न परिस्थितियों में भी अतर ला सकता है जिस कारण ऐसे विश्वजनीय प्रश्नो पर सोचते समय भी युग विशेष के वातावरण का प्रभाव पड़ना अनिवार्य सा है। अतएव जिन-जिन महापुरुषो ने इस प्रश्न पर आज तक पूरी गंभीरता के साथ मनन करने का प्रयत्न किया उन्हे सदा अपनी इन सीमाओं के ही भीतर काम करना पड़ा। उनके चिंतन एवं कार्यक्रम की पद्धति सदा अपनी परिस्थितियां से ही प्रेरणा पाती रही और उनके द्वारा उपलब्ध परिणाम भी स्वभावतः इनके ही अनुकूल निकलता आया। प्राचीन विचारकों का ध्यान कभी किसी विश्वनियंता की ओर जाता था, कभी वे किसी सार्वभौम नियम की कल्पना करते थे, कभी किसी अद्वितीय तथा निरपेक्ष तत्त्व के अस्तित्त्व का अनुमान करते थे तो कभी सारे जगत् के आपसे आप उत्पन्न होने एवं विकास पाने के विषय मे तर्क किया करते थे। फलतः विश्व संबधी दोषों की त्रुटियो को दूर करने तथा सबको सुखी एव संपन्न बनाने के प्रश्न पर उनके विचार करने के ढग भी भिन्न-भिन्न प्रकार के थे। वे सभी किसी न किसी आदर्श विश्व की कल्पना करते और तदनुकूल सुधार एवं परिवर्तन लाने का परामर्श और उपदेश दिया करते। ऐसी दशा मे किसी एक सार्वजनीन एवं सर्वसुलभ उपाय के द्वारा विश्व की सारी कमियों की

दुःख-सुख से प्रतीत होने लगते हैं और सब किसी के साथ उसका भाव पूर्ति का सफल प्रयत्न करना कोई सरल काम नहीं था। आदर्श विश्व की कल्पना करते समय यदि उनका ध्यान प्रधानतः इस प्रश्न के उस पार्श्व की ओर चला जाता जहाँ उसे 'सामूहिक' वा समष्टि की दृष्टि से देखना चाहिए तो उक्त कमियों के प्रमुख कारणों पर विचार करते समय वे इस बात को भी नहीं भूल पाते थे कि वह समष्टि भी वस्तुतः अनेक व्यक्तियों का ही समाहार है। आदर्श मानव समाज का स्वप्न देखते समय वे प्रायः व्यक्ति के महत्व को भूल जाते हैं और प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण का दम भरते समय सदा समाज पर दृष्टि नहीं रख पाते। जिन महापुरुषों ने इन दोनों को समुचित महत्त्व प्रदान कर पर्याप्त उदारता एव व्यावहारिकता से काम लिया उनका ही प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक स्थायी रहा।

संतो के कार्य पर इस विचार से दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि, विश्व कल्याण सबधी प्रश्न को करते समय उन्होंने उक्त दोनो का ध्यान रखा। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन-निर्माता का उपदेश देते समय उन्होंने यही कहा कि वे विश्वात्मक परमात्मतत्त्व के साथ अपनी अभिन्नता का विचार कभी न छोड़ें। संतो के अनुसार किसी आदर्श व्यक्ति की प्रत्येक चेष्टा, इस दशा मे, उस तत्त्व की अनुभूति के रंग मे स्वभावतः रँगी रहेगी और इस कारण उसका कोई भी कार्य ऐसा नहीं हो सकता जो बाह्यतः व्यक्तिगत सा दीखता हुआ भी, तत्त्वतः उक्त प्रकार के सामूहिक कल्याण के विपरीत पड़ता हो। वास्तव मे ऐसे व्यक्ति के भीतर किसी ऐसी शांति का समावेश हो जाता है[१] जिसके कारण उसके सारे

---

[१] अब हम सकल कुसल करि मांनां, स्वांति भई तब गोव्यंद जांनां ॥टेक॥
तन मैं होती कोटि उपाधि, उलटि भई सुख सहज समाधि ॥
जमके उलटि भया है राम, दुख बिसरया सुख किया बिश्राम ॥
बैरी उलटि भये हैं मीता सापत उलटि सजन भये चीता ॥ इत्यादि
'कबीर ग्रंथावली', पद १९, पृ० ९२

निर्वैरिता का हो जाता है, यहाँ तक कि उसे अपनी मृत्यु तक का भय नहीं रह जाता और उसका प्रत्येक कार्य सुखपूर्वक एवं अनायास होने लग जाता है। संतों ने इस आदर्श दशा को प्राप्त करने के लिए किसी बाहरी साधन की आवश्यकता नहीं बतलायी है और न इसके लिए किसी काल्पनिक "धाम" की ही ओर संकेत किया है। इसकी उपलब्धि के लिए पहले किसी आदर्श विश्व अथवा आदर्श समाज का निर्मित हो जाना भी अनिवार्य नहीं। व्यक्तिगत रूप से यह जिस किसी को भी चाहे वह जिस किसी भी समाज का सदस्य हो, संभव है, आवश्यकता केवल उसके जीवन में कायापलट आने तथा उसके स्थायी बने रहने भर की है। प्रत्येक व्यक्ति की सफलता अपने निजी प्रयत्नों पर ही निर्भर है। जिस कारण संतों के अनुसार, आदर्श विश्व का निर्माण किसी संगठन की अपेक्षा नहीं करता। संतों ने हमारे लिए क्या किया, का प्रश्नकर्ता यदि उनके द्वारा प्रतिष्ठित किसी ऐसी स्वयं सेवकों की टोली की खोज में हो जो सबको बिना बुलाये सजग और सचेत करती फिरती हो अथवा यदि वह उनके द्वारा सुरक्षित किसी ऐसी जड़ी-बूटी का पता लगाना चाहता हो जो घर बैठे सभी प्रकार के दुःखों को दूर कर सकती हो तो इन दोनों ही दशाओं में उसे किसी प्रकार का संतोषप्रद उत्तर नहीं दिया जा सकता। संतों ने ऐसी कोई भी पकी-पकायी सामग्री नहीं छोड़ी। उन्होंने विश्व के उस राजरोग को पहचानने की चेष्टा की जिस कारण वह निरंतर दुःख झेला करता है और उसका सावधानी के साथ निदान किया। वे उसकी दवा का गुण स्वयं अपने ऊपर उसका प्रयोग करके भी सिद्ध कर गये तथा उसके समुचित अनुपानों की ओर भी संकेत कर गये। हमने न उनपर श्रद्धा की और न अपने ऊपर ही पूरा विश्वास किया प्रत्युत सारे झमेलों से अलग बने रहकर केवल इतना ही जानना चाहा कि किस किसने अपना दायित्व कहाँ तक निभाया तथा क्या किसी अन्य की कृपा से भी कोई ऐसा उपाय हाथ लग सकता है जिससे सबका कल्याण हो सके?

संतों ने जिस अपनी धारणा के आधार पर विश्व के प्राणियों में सुख एवं शांति की प्रतिष्ठा करने का सुझाव दिया था वह भारतीय विचार-धारा से बहुत भिन्न नहीं थी और इस विषय की बहुत सी बातें प्रायः एक ही समान तर्क समत भी कही जा सकती थीं। संतों की विशेषता केवल इस बात में पायी गयी कि उन्होंने ऐसी मान्यताओं को शास्त्रानुमोदित मात्र न मान कर इन्हें अपने अनुभवों की कसौटी पर भी कस कर सिद्ध कर दिया और इस प्रकार ये केवल कतिपय उच्चवर्ग में लोगों की ही वस्तु न रह कर सर्वसाधारण तक के लिए सुलभ हो गई। संत लोग स्वयं अधिक शिक्षित नहीं रहते थे और साधारण कोटि के समाज में प्रायः पाले-पोसे गये होने के कारण वे साधनहीन भी थे। परंतु जिन प्रश्नों का समाधान करने का उन्होंने प्रयत्न किया वे सर्वथा मौलिक होने के कारण अत्यंत सरल और स्वाभाविक भी थे। संतों ने उन्हें अपने सहज-भाव के साथ समझा और उन्हें उसी प्रकार दूसरों को समझाने की भी चेष्टा की। फलतः जो बातें कभी वैदिक साहित्य अथवा प्राचीन संस्कृत के ग्रंथों में आने के कारण पहले बहुत गूढ़ और अपरिचित जान पड़ती थीं वे ही इनकी बानियों में बोधगम्य बन गयीं। उनके प्रति सर्वसाधारण की उत्सुकता बढ़ने लगी और धीरे-धीरे जनभाषा में भी एक ऐसे संत साहित्य का निर्माण हो गया जो अपने विषय की गभीरता में किसी से कम न था। जो प्रश्न कभी केवल पंडितों एवं विद्वानों के ही लिए उपयुक्त समझे जाते थे और जिन्हें शुद्ध शास्त्रीय मात्र समझा जाता था वे इन संतों के प्रयत्नों द्वारा सर्वसाधारण जनता के भी सामने आने लगे और इनका समावेश लोक साहित्य तक में किया जाने लगा।

इस प्रकार संतों ने भारतीय संस्कृति के विकास में अनेक प्रकार के सहयोग प्रदान किया। भारतीयों के गूढ़ दार्शनिक सिद्धांत अद्वैतवाद को उन्होंने सर्वसाधारण के जीवन तक में घटा कर उसकी वास्तविक उपयोगिता सिद्ध कर दी। केवल इसी के आधार पर धर्म एवं संप्रदायगत भेदभाव के साथ-साथ वर्ण एवं जातिगत विषमताओं की भी निःसारता

को प्रमाणित कर दिखाया। संतों को इस धारणा के प्रचार का एक परिणाम यह भी हुआ कि जो विश्व बंधुत्व पहले किसी स्वप्नलोक की बात समझा जता था उसे युक्तिसंगत आधार मिल गया और प्रत्येक भारतीय को अपने विषय में आत्मगौरव का अनुभव करने का अवसर मिल गया। इसके सिवाय इन संतों की ही कड़ी आलोचनाओं के कारण हमारा ध्यान एक बार अपनी उस दृष्टि की ओर भी गया जिसके कारण हम अपनी 'कथनी' एवं 'करनी' में सामंजस्य रखने का सदुपयोग नहीं जानते थे और हमारा जीवन ढोंगों से भर गया था। संतो ने इस महान् दोष की ओर संकेत करके हमें अपनी कई प्रथाओं को सुधारने में भी सहायता प्रदान की और इस प्रकार हमारे जीवन में अधिक शुद्धता, सत्यता एवं सुव्यवस्था को लाने का भी सुअवसर मिल गया। संतों ने अपने सभी कार्य साधारण समाज में रह कर और साधारण लोकभाषा के ही माध्यम से किया जो स्वयं भी उनकी एक बहुत बड़ी देन थी।

हिंदी संत साहित्य

साधारण तौर पर प्रयोग में आने वाले 'संत' शब्द का अभिप्राय किसी भी ऐसे महापुरुष से हो सकता है जिसे हम दूसरे शब्दों में साधु, सज्जन, सदाचारी, भक्त अथवा महात्मा कहा करते हैं। किंतु संत-साहित्य में प्रयुक्त 'संत' शब्द का अर्थ उससे कुछ भिन्न समझा जाता है। यहाँ पर 'संत' शब्द का व्यवहार केवल उन्हीं महान व्यक्तियों के लिए किया जाता है जो उक्त गुणों से संपन्न होते हुए अपने कतिपय विशेष विचारों और साधनाओं के कारण एक विशेष परंपरा के अनुयायी भी माने जाते रहे हैं। यह परंपरा स्पष्ट और विशद् रूप से प्रसिद्ध कबीर साहब के काल से आरंभ हुई थी और तब से समयानुसार केवल थोड़े से परिवर्तनों के साथ आज तक निरंतर चली आ रही है। इसके अनुयायी अधिकतर 'निर्गुण पंथी' वा 'निर्गुनिए' भी कहे जाते हैं। ये निजी अनुभव को ही साधना में सबसे अधिक महत्व देते हैं। सादगी, सदाचार, त्याग, निर्भीकता, हृदय की सचाई और विश्व प्रेम के ही बराबर उपदेश दिया करते हैं और नामस्मरण में अबाध रूप से लगे रहने पर भी अनासक्ति के साथ अपने आवश्यक लौकिक कार्यों के करने से मुँह नहीं मोड़ते। समाज में इनका मुख्य उद्देश्य आदर्श एवं व्यवहार का सामंजस्य रखते हुए उसकी भलाई करना है। इन्हें हर प्रकार के आडंबर और विडंबनाओं से सख्त परहेज है। संत साहित्य का शब्द भी, काव्य शास्त्र संबंधी छंद अलंकार, रीति, रस वा गुण दोषों के ग्रंथों का ही केवल परिचायक न होकर, संत परंपरा के अनुयायियों द्वारा निर्मित की गई समस्त रचनाओं के समूह के लिए ही व्यवहृत हुआ है। संत साहित्य की रचनाओं में विशेष रूप से सिद्धांत एवं साधनाओं का निरूपण तथा प्रतिपादन मात्र आने के कारण उसमें विषय वा भाव

का ही प्राधान्य रहा है। भाषा को गौण मान उसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। इसी कारण संतों की रचनाओं में अनेक स्थलों पर व्याकरण, पिंगल आदि की अशुद्धियाँ अथवा शैली की शिथिलता का का पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

हिंदी का संत साहित्य अभी अधिकतर अप्रकाशित और हस्तलिखित ही पड़ा हुआ है और इसके कदाचित् कुछ थोड़े से ही अंश द्वारा सर्व-साधारण परिचित हैं। इसके जानकारो के अनुसार इसका कलेवर बहुत विशाल है। हिंदी भाषा में इस विशेष साहित्य की रचना का सूत्रपात एक प्रकार से उसी समय हो चुका था जब वह स्वयं अपने बाल्यकाल में थी; बल्कि इसके मूल बीज का पता हमें कुछ न कुछ उस समय भी लगने लगता है, जब वह अभी अपभ्रंश के गर्भ में अव्यक्त रूप से वर्तमान थी। संत साहित्य को इस दृष्टि से हम हिंदी साहित्य का प्राचीनतम वा आदिकालीन अंश भी कह सकते हैं। तब से अर्थात् विक्रम की सातवीं शताब्दी के लगभग से ही कतिपय क्षीण स्रोतों से मिल कर निकली हुई संत साहित्य की धारा मार्ग में आ पड़ने वाले विभिन्न प्रवाहो द्वारा प्रभा-वित और पुष्ट होती हुई पद्रहवीं शताब्दी से एक स्पष्ट रूप धारण कर लेती है और तभी से उसे एक विशिष्ट नाम देना आरंभ करते हैं। संत-साहित्य का जीवन काल तो दीर्घ है ही, भाषा से सुपरिचित प्रायः प्रत्येक प्रांत के निवासियो से इसका घनिष्ट संबंध होने के कारण, इसके क्षेत्र का विस्तार भी कम नहीं है। इसके रचयिताओं मे यदि दक्षिण के महाराष्ट्रीय संत नामदेव हैं तो उत्तर के पंजाबी गुरु नानक देव भी हैं और उसी प्रकार इसके अंतर्गत पच्छिम काठियावाड़ के निवासी प्राण-नाथ की रचनाएँ संमिलित हैं तो दूसरी ओर पूर्व के विहार प्रांत वाले दरिया साहब के ग्रंथो को भी उसी प्रकार स्थान मिला है। इतने बड़े इस भूखड के निवासियों के अंतर्गत अनेक छोटी-बड़ी जातियाँ है और भिन्न-भिन्न प्रातों की भिन्न-भिन्न बोलियाँ भी हैं जिन्हें हिन्दी भाषा के भीतर समाविष्ट किया जाता है। संत साहित्य के निर्माताओं में उक्त दोनों

प्रकार की विभिन्न प्रकार की जातियों के प्रतिनिधि सम्मिलित हैं। इसमें आने वाली रचनाओं मे उक्त बोलियों के न्यूनाधिक उदाहरण भी मिलते हैं। इस प्रकार देश, जाति एवं बोलियों की दृष्टि से भी इस साहित्य की विशालता स्वयं सिद्ध है।

हिंदी संत साहित्य के जिन मूल स्रोतों की ओर ऊपर संकेत किया गया है, उनमें योगाचार, तंत्रशास्त्र, हठयोग, वाममार्ग आदि संबंधी प्रचलित सिद्धांतों एव साधनाओ पर आश्रित सहजयानी बौद्ध सिद्धो के दोहे और चर्यागीतिकाएँ भी आती हैं। इन रचनाओं के साथ हिंदी के सत साहित्य का मिलान करने पर स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धों की सांप्रदायिक स्वीकृतियों के अतिरिक्त प्रायः सभी बातें केवल शब्दो के रूपांतर मात्र के साथ ज्यों की त्यो दोनो में आ जाती हैं। प्रायः वैसे ही विषय, वैसी ही उक्तियाँ, वैसी ही फटकारें और वैसी ही चेतावनियाँ हैं तथा एक ही समान प्रेरणाओ द्वारा प्रेरित हो कठोर उद्‌गारों के रूप में प्रकट की गई हैं। आगे आने वाले सेश्वरवादी नाथ पंथियो की रचनाओं में स्वभावतः कुछ और भी अधिक समानता दिखने लगती है और वारकरी सम्प्रदाय के निर्गुणपंथी महाराष्ट्रीय सतो के हिदी पदों को देखकर यह स्पष्ट धारणा हो जाती है कि उन रचनाओं के अंतर्गत संत साहित्य का विकसित रूप भी कुछ अशों तक वर्तमान है। कबीर साहब के समय तक संत साहित्य की रचनाओं पर जैन साधना, इस्लाम धर्म के सूफीवाद तथा रामावत संप्रदाय के भक्तिवाद का भी पूर्ण प्रभाव पड़ चुका था। यदि उसमे किसी बात की कमी रह गई भी तो वह भी केवल उसमें आने वाली ईसाई मत की कतिपय स्थूल बातें तथा योग एवं वेदात दर्शन के कुछ विचार या साधना पद्धतियाँ थीं जो आगे आने वाले संतो की शिक्षा-दीक्षा, सत्संग तथा अन्य परिस्थितियों के कारण उनकी कृतियों में समाविष्ट हो गईं। आगे आने वाले संतो में से कई एक का झुकाव कुछ सीमा तक सगुणवाद की ओर भी हो चला था जिसके कारण इधर के संत साहित्य में कुछ विषमता के चिह्न आ गये हैं।

हिंदी संत साहित्य के निर्माताओं में कुछ ऐसी उत्कृष्ट और अलौकिक विभूतियो का आविर्भाव हुआ है जिनके जोड़ के महापुरुषो का अन्यत्र कहा भी उपलब्ध करना कठिन है। आदर्श और व्यवहार का सामंजस्य संतमत की सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण विशेषता है और इसी कारण, हमारे सभी संतों की कथनी एवं रहनी अथवा करनी की पूर्ण एकरूपता पर विशेष जोर दिया है, तथा इसी कारण उसे स्वयं अपने व्यक्तिगत जीवन के अंतर्गत कार्य मे परिणत करके भी दिखला दिया है। खेद है कि हमारे संतों की प्रामाणिक जोवनियो से पूर्ण सामग्री नहीं मिलती और जो कुछ इतिवृत्त उनके विषय में उपलब्ध है, उनका अधिक अंश चमत्कार भरी कहानियों से ही भरा पड़ा है। फिर भी जो कुछ बातें हमारे सामने आज तक आ सकी हैं, उनके अनुसार कम से कम एक मोटे तौर पर ही क्यों न हो, हम उनके विपय में अपनी धारणा कुछ निश्चित कर लेते हैं और इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उन संतों का जीवन भी वैसा ही उच्च और उज्वल अवश्य रहा होगा, जैसा कि उनकी रचना में आये हुए विचारों द्वारा लक्षित होता है।

उदाहरण के लिए कबीर साहब की रचनाओ में जो तन्मयता, आत्मनिर्भरता, निर्भीकता तथा स्पष्टवादिता के भाव प्रकट होते हैं, उन्हें हम उनकी उपलब्ध जीवनियों द्वारा भी प्रमाणित कर सकते हैं और भली भाँति देख सकते हैं कि उनके कथन एवं कार्य में किस प्रकार समानता थी। उन्होंने अपने निजी अनुभवों द्वारा प्राप्त सत्य के आलोक मे ही अपना सारा जीवन व्यतीत किया और जब तक जीवित रहे एक सच्चे जीवन्मुक्त के रूप मे समाज के भीतर कर्तव्यों का पालन करते रहे और वैसे ही जीवन यापन के वे उपदेश भी देते रहे। उसी प्रकार संत रैदास की निस्पृहता, गुरु नानक देव की आत्म विस्मृति, दादू दयाल को भावुकता प्राणनाथ की प्रेमरूपता, मलूकदास की मस्ती, तुलसी साहब की तर्कपटुता, स्वामी शिवदयाल की रहस्यवादिता तथा चरणदास के

शुद्ध भक्ति भाव, पलटू साहब का आत्मनिवेदन एवं परमहंस शिवनरायण के सदाचार के नमूने हमें उनकी रहनी और रचनाओं में एक ही प्रकार व्यवहृत वा उद्धत समझ पड़ते हैं। इन संतों को व्यर्थ के प्रपंचों में पड़कर समय व्यतीत करने तथा समाज एवं अपने को भी धोखा देने के प्रति बड़ी घृणा थी। ये आध्यात्मिक साधना में निरता रहना, आत्मोन्नति का अनुभव करना तथा सर्वत्र ओतप्रोत किसी व्यापक अलौकिक वा अनिर्वचनीय शक्ति की उपलब्धि द्वारा अपने भीतर और बाहर सब कहीं एकरस पूर्ण आनंद में मग्न रहना तो अपना ध्येय मानते ही थे, इसके कारण इन्हें समाज के बीच कर्त्तव्यपालन में कभी बाधा नहीं दीख पड़ी। ये अपनी आध्यात्मिक साधना द्वारा अपने को संसार के सुधार वा कायापलट के लिए शिक्षित करते थे और इसी कारण, इन्होंने मरणोपरांत सुख वा आनंद-प्राप्ति की अपेक्षा वर्तमान जीवन में ही रहकर उसके अनुभव का आदर्श सामने रखा। संसार की वास्तविकता को समझते हुए भी उन्होंने उससे अलग भाग खड़ा होना कभी नहीं चाहा।

हिंदी साहित्य के अंतर्गत, संत साहित्य के अतिरिक्त, रीति शास्त्र, भक्ति भाव, प्रेमगाथा, वीरोल्लास आदि कई प्रकार के आधारों पर की गयी रचनाओं का समावेश है। इनमें से कम से कम रीतिशास्त्र और वीरोल्लास संबंधी प्रायः सारे ग्रथ, साहित्यनिरूपण अथवा किसी व्यक्ति, वंश, वा जाति की प्रशसा के उद्देश्य से ही, निर्मित किये गये मिलते हैं। इसीलिए उन में या तो विषयों की निर्धारित सीमा अथवा वर्ण्य से अधिक वर्णन, शैली की ओर ही ध्यान देने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। इसके विपरीत प्रेमगाथा एवं भक्ति भाव संबंधी साहित्य में या तो किन्हीं सरल सुबोध कहानियों द्वारा गूढ़ प्रेम के रहस्यों का उद्घाटन मिलता है अथवा राम, कृष्ण वा अन्य उपास्य देवों की गुणावली वा चरितावली के वर्णनों द्वारा व्यक्त की गई भक्ति भावना का प्रदर्शन मात्र मिलता है। इस प्रकार ऐसी रचनाओं में मोटे तौर पर देखने से

विषय-प्रतिपादन, गुणानुवाद, आत्मनिवेदन वा मनोरंजन के सिवाय और कुछ भी नहीं दीख पड़ता है। इनकी सीमाएँ एक प्रकार से व्यक्ति वा विषय विशेष तक ही संकुचित समझी जा सकती हैं। इनमें आदर्श मानवीय जीवन एवं विश्व कल्याण के उद्देश्य की प्रेरणा द्वारा प्रस्तुत की गई रचनाओं का समुचित समावेश नहीं पाया जाता। वीरोल्लास वाले ग्रंथों में आध्यात्मिकता का अभाव है। रीतिशास्त्र वाली रचनाओं के उदाहरणों में आदर्श वा अलौकिक व्यक्तियों को भी नीचे स्तर की साधारण श्रेणियों में लाकर उनके साथ खिलवाड़ सा कर दिया गया है। प्रेमगाथा की कहानियों में, अधिकतर शृंगार संबंधी भावों के अति प्रबल वा विकृत रूपों के प्रदर्शन द्वारा, ग्रंथों का मूल उद्देश्य कहीं-कहीं लुप्त-सा हो गया है। इसी प्रकार, भक्ति भाव द्वारा अनुप्राणित पदों वा प्रबंध काव्यों का भी अधिकांश भक्तों की स्वर्ग-विषयक व्यक्तिगत आकांक्षाओं की ही पूर्ति करता जान पड़ता है।

संत साहित्य का निर्माण एक विशेष उद्देश्य को लेकर तथा एक विशेष आदर्श को सामने रख कर किया गया है। प्रतिदिन अनुभव में आने वाली वस्तुओं एव व्यवहारों की वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट हो उनकी वास्तविकता का पता उपलब्ध करना ही उसके निर्माताओं का उद्देश्य रहा और समुचित आवश्यक साधनों द्वारा उससे पूर्ण परिचित हो, उसके अनुसार इन्होंने अपना जीवन संबंधी दृष्टिकोण स्थिर किया। वस्तुस्थिति की सच्ची परख होते ही इन्हें एकमात्र नित्य एवं शाश्वत सत्य की अनुभूति हुई जिस कारण इनके जीवन संबंधी सिद्धांतों में आमूल परिवर्तन हो गया और सारी बातें विशेष रूप एवं रंग में दीख पड़ने लगीं। संतों ने अपनी रचनाओं के अंतर्गत आनेवाली आध्यात्मिक, धार्मिक, व्यक्तिगत एवं सामाजिक प्रायः सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान, इसी निश्चित किये गये दृष्टिकोण के अनुसार ही करने की चेष्टा की है। उक्त निश्चित सत्य के साथ स्वभावतः एकरूपता स्थापित करने के कारण इनका आदर्श भी अत्यंत उच्च एवं व्यापक बन गया है।

फिर तो परिणामस्वरूप सारा समाज इनका अपना हो गया है। सभी प्राणी आत्मीयों की भाँति समझ पड़ने लगे हैं और सारे प्रचलित धर्मों के आधारसूत नियम इनके सिद्धांतों की पुष्टि करने लगे हैं। संतों ने किसी भी धर्म के मौलिक नियमों की अवहेलना नहीं की है, बल्कि उसके अनुयायियों को उन्हें भली-भाँति समझने का अनुरोध किया है।

यह सच है कि संत साहित्य के प्रारंभिक रचयिताओं ने जितना प्रयास आध्यात्मिक रहस्यो की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए किया है, उतना भिन्न-भिन्न सामाजिक समस्याओं की उलझनों को सुलझाने की ओर नहीं किया है और इस दृष्टि से इनका कार्य कुछ अधूरा-सा रह जाता है। किंतु साथ ही इस बात को भी ध्यान मे रखना आवश्यक है कि इनके अनुसार, सर्वप्रथम, वास्तविक स्थिति की जानकारी प्राप्त करना तदनुसार अपने मान्य नियमों को निर्धारित कर लेना ही परम श्रेयस्कर है। यदि इसमें सलफता हो गई तो सारी अन्य बातें सहज एवं स्वयं-सिद्ध बन जाती हैं। संतों के अनुसार सत्य का वास्तविक ज्ञान तभी हो सकता है जब जिज्ञासु के व्यक्तिगत अनुभव में वह पूर्ण रूप से व्याप्त हो जाय, जब प्रत्येक वस्तु वा दैनिक व्यवहार हमें उसी के द्वारा प्रभावित जान पड़े और हमारा सारा जीवन उसी के साथ एकरस वा एकाकार हो जाय। इस प्रकार देखने पर इनकी आध्यात्मिक अनुभूति का स्थान व्यवहार की रहनी वा करनी से अधिक महत्वपूर्ण होकर कहीं उच्च ठरहता है और शुद्ध सामाजिक जीवन का वास्तविक मूलस्त्रोत उसी में अंतर्हित है। इस तथ्य को न जानकर उसकी उपेक्षा करने से ही सभी प्रकार के दुःखों का सामना करना पड़ता है। अतएव इन्होंने सर्वसाधारण की दृष्टि उसी ओर फेरने की चेष्टा बहुत अधिक की है और सामाजिक बातों की ओर जो उसके ठीक हो जाने पर आपसे आप सुधर सकती हैं, उतना ध्यान नहीं दिया है। संत साहित्य में मुख्यतया उसके निर्माताओं के निजी अनुभव उसकी उपलब्धि की साधना तथा उससे होने वाले परिणामों का ही वर्णन है।

संत साहित्य और जैन हिंदी कवि

जैनागमो एवं बौद्धपिटकों द्वारा अनुप्राणित श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति मे मूलतः कई बातो में भिन्न कही जा सकती है। वैदिक आर्यों की मनोवृत्ति जितनी दार्शनिक थी उतनी वह नैतिकता की ओर उन्मुख न थी। उपनिपदो में विशेषतः किसी नित्य शुद्ध चैतन्य के दर्शन वा ज्ञान को प्रधानता दी गई थी और उनमे निर्दिष्ट मोक्ष का रूप भी बहुत कुछ अस्पष्ट सा प्रतीत होता था। इसके विपरीत श्रमण परपरा वाले गौतम बुद्ध का तत्वज्ञान बुद्धिवाद पर आश्रित रहा तथा उनका लक्ष्य दुख से परम निवृत्ति का था और इसी प्रकार, तीर्थंकर महावीर भी प्रधानतः इद्रिय वृत्तियो के पूर्ण अनुशासन तथा मौलिक मानवीय शक्तियों के पूर्ण विकास का ही आदर्श रखते थे। इन दोनो महापुरुषों का ध्यान शुष्क आत्मदर्शन की अपेक्षा 'निर्वाण' अथवा 'अर्हत्' की स्थिति उपलब्ध करने की ही ओर अधिक रहा। वैदिक आर्यो ने अपने ऐहिक अथवा आमुष्मिक हित के भी लिए यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठित होना परमावश्यक माना था जहाँ, बौद्ध एवं जैन स्वीकृतियों के अनुसार उन्हें अनावश्यक ठहराया गया और उनके लिए विहित हिंसा को सर्वथा हेय भी बतलाया गया। इसके सिवाय वैदिक आर्यों ने जहाँ, वेदों को अपौरुषेय मानते हुए, उनके प्रमाण तथा ब्राह्मण वर्ग के पौरोहित्य पर अपने धार्मिक जीवन को आश्रित रखा था वहाँ, श्रमण संस्कृति के समर्थको ने उन्हें अस्वीकार करते हुए इसके निमित्त आत्मनिर्भरता को ही अधिक प्रश्रय दिया। इन्हें किसी ईश्वर जैसे जगत के निर्माता और नियामक में भी कभी विश्वास नहीं रहा जिस कारण ये लोग बहुधा निरीश्वरवादी कहला कर भी प्रसिद्ध हुए।

श्रमण संस्कृति के समर्थको की निरीश्वरवादिता वस्तुतः उनके कर्मवाद

में निभ्रांत आस्था रखने के कारण थी। वे कर्मों के परिणामस्वरूप होते रहने वाले जन्मांतर में भी, वैदिक संस्कृति वालो से कहीं अधिक विश्वास रखते थे। फिर भी इन दोनों ही वर्गों के लोग सांसारिक जीवन के प्रपंचों से निवृत्ति पाने के भी इच्छुक थे। गौतम बुद्ध जहाँ प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक एवं अनात्म मानकर चलते थे और वैदिक आर्यों को जहाँ दृश्यमान जगत की पृष्ठभूमि के रूप में, अनेक मे एक होकर विद्यमान किसी सत्ता मे भी विश्वास था वहाँ तीर्थंकर महावीर को जगत की क्षणिकता एवं आत्मतत्व को एक साथ स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति न थी, उन्हें केवल आत्मतत्व का एकांतिक रूप मात्र ही स्वीकार नहीं था। इस कारण, उपनिषदों में जहाँ जगत् को उसके अनित्य होने के ही कारण, दुखमय कहा गया था और इसीलिए आत्मतत्व जैसी नित्य वस्तु के प्रति आग्रह भी था और गौतम बुद्ध जहाँ, उसी कारण उसका सर्वथा निवृत्त हो जाना तक श्रेयस्कर समझते थे वहाँ तीर्थंकर महावीर ने न तो उपनिषदों जैसी आत्मतत्व की एकांतिकता को अपनाया और न बुद्ध जैसा पूर्ण निवृत्ति पर बल देना ही उचित समझा। इनके लिए जगत की परिवर्तनशीलता और आत्मतत्व की नित्यता दोनो ही मान्य थी और तदनुसार, इनका मोक्ष भी पूर्ण निवृत्ति के रूप मे न होकर मनोविकारों से मुक्ति स्वरूप था।[1] मोक्ष को उपलब्ध करने की शक्ति बीज रूप मे सब किसी के अंतर्गत निसर्गतः विद्यमान है, किंतु वह सदा जागृत नहीं की जाती। उसके द्वारा अर्हत की स्थिति प्राप्त कर जीव सिद्ध एवं सर्वज्ञ हो जाता है जो वैदिक परंपरानुसार केवल ईश्वरत्व की दशा मे ही संभव है।

जैन धर्म आचरण प्रधान है और उसमें आध्यात्मिक जीवन को सर्वाधिक महत्व दिया जाता आया है। जैनाचार की भी समस्त क्रियाओं का मूलाधार अहिंसा मे निहित है जिस कारण इसे वहाँ के 'अणुव्रत' मे सर्व-

---

[1] डा० नथमल टाटिया 'स्टडीज़ इन जैन फिलासफी, पृ० १८

प्रथम स्थान प्राप्त है। अहिंसा का सत्य के साथ घनिष्ठ संबंध है और इसमें स्वभावतः ब्रह्मचर्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह का भी समावेश हो जाता है। योगसाधना के लिए विहित 'यम' के अंतर्गत भी अहिसा की ही गणना सबसे पहले की जाती है और सत्य, आदि के नाम इसके पीछे लिये जाते हैं। जैन धर्म ने अहिसा, तप एवं संयम का होना मानवीय शक्तियों के समुचित विकास के लिए अनिवार्य ठहराया है और इसके विपरीत आचरण को हेय मानकर उसे कभी न अपनाने का उपदेश भी दिया है। तप के द्वारा बाह्य एवं आभ्यतरिक दोनो ही प्रकार का सशोधन हो जाता है जिससे संयम के अनुसार आध्यात्मिक विशुद्धि प्राप्त करने मे किसी प्रकार की बाधा का अनुभव नहीं होता। हमे क्रमशः अहिसा की वह आदर्श स्थिति भी उपलब्ध हो जाती है जिसके बल पर विश्व की समस्याओं का हल किया जाना संभव है। अतएव, जैन साहित्य में भी हमे इसी प्रकार की आत्मसाधना तथा आचरणशीलता को विशेष महत्व दिया गया मिलता है और वहाँ यज्ञादि के अनुष्ठान, तीर्थ यात्रा, भेष धारण, प्रतिमा पूजन जैसे बाह्य साधनों को निरुत्साहित किया गया है। उसमें इस भावधारा की अभिव्यक्ति का माध्यम भी ऐसी ही भाषा को बनाया गया है जो सर्वजन सुलभ हो।

जैन कवियों ने अपनी कृतियों को जन जीवन के अति निकट लाने के प्रयत्न मे उनकी रचनाशैली को सरल एवं सरस कर दिया है। उनमें उक्त प्रकार के आध्यात्मिक जीवन का ही आदर्श प्रतिपादित किया गया मिलता है, किंतु उसका उपदेश एक ऐसे ढंग से दिया गया रहता है जिसका गहरा प्रभाव बिना पड़े नहीं रह सकता और हम उस पर गंभीरता के साथ विचार करने लग जाते हैं। इन कवियो की प्रबंधमयी रचनाओं मे प्रधानतः ऐसे पात्रों को ही स्थान दिया गया है जो सर्वसाधारण के भी लिए परिचित हों और सर्वत्र केवल ऐसे ही प्रतीक एवं उपमानादि के प्रयोग हुए हैं जो सब किसी के दैनिक जीवन में उपलब्ध हो सकते हो। इनके अनेक उदाहरण हमे जैन मुनियों की उन रचनाओं में भी

मिलते हैं जो अपभ्रंश भाषा के मुक्तकों में लिखी गई हैं। अपभ्रंश भाषा में इस प्रकार के मुक्तकों की रचना बौद्ध सिद्धों ने भी की है और उनके कुछ ऐसे पद्य संग्रह दोहा कोशों एवं चर्यापदों के रूप मे उपलब्ध हैं। किंतु उन सिद्धों की कृतियों में अधिकतर तान्त्रिक साधनाओं का भी उल्लेख रहा करता है और वे इसी कारण, रहस्यमयी भी बन जाया करती है। उनमें बहुधा किसी ऐसी मनःस्थिति की ओर सकेत किया गया मिलता है जिसकी प्रतिकृति पूर्णतः उभर नहीं पाती। कभी-कभी तो हम उनके शब्दों की पारिभाषिकता की ही उलझन मे पड़ जाते हैं, कभी उनके प्रतीकों के मूलस्रोत ढूँढ़ने लगते हैं और कई बार उनके कारण, ऐसी भुलभुलैया का भी शिकार बन जाते हैं जिससे निकल जाना महा कठिन जान पड़ता है। उनमें अभिव्यक्त जीवन का रूप भी जितना व्यक्तिगत और साधनात्मक है उतना नैतिक और व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता।

जैन मुनियों की ऐसी कृतियाँ उनमे कहीं अधिक स्पष्ट और वस्तुसगत हैं और हिंदी के संत कवि संभवतः इन्हीं से अधिक प्रभावित हैं। जहाँ तक बाह्य आडंबर, अनावश्यक प्रपंच आदि की आलोचना का प्रश्न है इन तीनों वर्गों के कवि एक समान उद्‌गार प्रकट करते हैं। इन तीनों का लक्ष्य ऊपरी साधनाओं को व्यर्थता एवं कृत्रिम जीवन की परिहार्यता सिद्ध करना रहता है और ये तीनो प्रायः एक ही प्रकार की तीखी चुभती, व्यंगमयी कथनशैली का न्यूनाधिक प्रयोग भी किया करते हैं, किंतु बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में जहाँ किसी आदर्श स्थिति का केवल स्वप्निल एवं वायवीय आभास मात्र ही मिल पाता है वहाँ जैन मुनि एवं सत ठोस जीवन का चित्र भी रखते दीखते हैं। हिंदी के सत कवियों ने बौद्ध सिद्धो की शब्दावली को अवश्य अपनाया है और ये कुछ न कुछ उनकी भाव-धारा से भी प्रभावित हैं, किंतु ऐसी बातें इन्हें, कदाचित्, नाथपंथी कवियो द्वारा ही उपलब्ध हुई हैं जो स्वभावतः इनके अधिक सजातीय भी कहे जा सकते हैं। नाथ पंथी कवि भी, संतक वियो की ही भाँति

किसी अनिर्वचनीय परमतत्व में आस्था रखते हैं और वे योगसाधना को भी महत्व देते हैं। उनकी रचनाओं में हमें जैन मुनियों की तपोनिष्ठा का महत्व भी प्रतिपादित किया गया दीख पड़ता है। किंतु उनमें जैन मुनियों अथवा संतों की भाँति नैतिक जीवन की ओर उतना ध्यान दिया गया नहीं जान पड़ता। हमें उनमें उस भक्ति भाव तथा प्रेम साधना का भी कोई संकेत नहीं मिलता जिस कारण संतों की गणना कभी-कभी भक्त कवियों में भी कर दी जाती है।

संतों के साहित्य में हमें बौद्ध सिद्धों की अटपटी बानियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं और इसमें उनके पारिभाषिक शब्दों की भी कमी नहीं। इसमें नाथपंथियों के साध्य शिवतत्व तथा उसके लिए किसी न किसी यौगिक साधना के उल्लेख भी पाये जाते हैं। इसी प्रकार इसके अंतर्गत हमें वैष्णवों का भक्ति भाव एवं सूफियों की जैसी प्रेम की पीर भी लक्षित होती है। किंतु इस साहित्य की जो सबसे बड़ी देन है और जो इसमें चित्रित आध्यात्मिक जीवन एवं नैतिक व्यवहारपरक उपदेशों के रूप में उपलब्ध है वह उनमें से किसी के भी अनुरूप नहीं। उसका आदर्श यदि कहीं मिल सकता है तो वह केवल जैनमुनियों की ही वाणी में अन्वेषणीय है। ये लोग स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि "देव न तो देवालय में है न पाषाण में है, न लेप में है न चित्र में है, वह अक्षय निरंजन और ज्ञानमय शिव समचित वा समभाव वाले के मन में ही निवास करता है।"[१] "हे योगी, अपना मन निर्मल कर लेने पर ही शांत शिव के दर्शन होते हैं और वह घन रहित आकाश में सूर्य की भाँति

---

[१] देउ ण देउले णवि सिल ए, णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ, सिउ संठिउ सम चित्ति ॥१२३॥

परमात्म प्रकाश, पृ० १२४

प्रकाशमान होता है।"[1] अतएव, "जिसका मन जीते जी पंचेंद्रियों के साथ मर गया उसे ही मुक्त मानना उचित है, उसी ने निर्वाण पथ को पाया है।"[2] तथा "रागद्वेष का परित्याग करके जो सभी प्राणियों को एक समान जानता है और इस प्रकार समभाव में प्रतिष्ठित है वह शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त कर लेता है।"[3] आत्मज्ञानी वही है जो चाहे कोई किसी का मित्र हो अथवा शत्रु हो सबके साथ सभी जीवों को एक मानने की दृष्टि से व्यवहार करता है।[4] कबीर साहब आदि संत कवियों के भी कथन का यही सारांश है और इसी के आधार पर सारे नैतिक आचरण की मूलभित्ति खड़ी है। इन जोइंदु, मुनिराम सिंह जैसे जैन मुनियों की रचनाओं में संत साहित्य की अन्य अनेक गौण बातें भी पायी जाती हैं और इनकी सीधी परंपरा हिंदी के उन जैन कवियों में भी लक्षित होती है जो विक्रम की १६वीं से लेकर उसकी १९वीं शताब्दी तक बराबर कविता करते आए हैं।

---

[1] जोइय णिय मणि णिम्मलए, पर दीसइ सिउ संतु।
अंबरि णिम्मलि घण-रहिए, भाणु जि जेम फुरंतु ॥११९॥

परमात्म प्रकाश, पृ० १२०

[2] जसु जीवंतहं मणु मुवउ, पंचेंदियहं समाणु।
सो जाणिज्जइ मोक्कलउ, लद्धउ पहु णिव्वाणु ॥१२३॥

पाहुड़ दोहा, पृ० ३६

[3] राअ दोष वे परिहरिवि, जे सम जीव णियंति।
ते समभाव परिट्ठिया, लहु णिव्वाणु लहंति ॥१००॥

परमात्म प्रकाश, पृ० २४२

[4] संतु वि मित्तु वि अप्पु परु, जीव असेसु वि एइ।
एक्कु करे विणु जो मुणइ, सो अप्पा जाणेइ ॥१०४॥

वही, पृ० २४६

वास्तव में १६ वीं से १६ वीं तक की विक्रम शताब्दी का समय विभिन्न सुधार आंदोलनो का युग था। इसके पहले से ही भक्ति आंदोलनों का सूत्रपात हो चुका था और एक नवीन इस्लामी संस्कृति के संघर्ष में आ जाने के कारण, सभी भारतीय धर्मों के अनुयायी सजग होने लगे थे। यों तो उन दिनो योरप के भी कई देशों मे इस प्रकार के आंदोलनों की कमी नहीं थी, किंतु भारतवर्ष में ऐसी जागृति अधिक व्यापक बनकर दीख पड़ी। हिंदू धर्म के अतर्गत जहाँ वैष्णव सप्रदाय ने विशेष बल पकड़ा वहाँ इस्लाम के सूफ़ी संप्रदाय का भी इस समय बहुत अधिक प्रचार हुआ। ये दोनों ही सप्रदाय अपने-अपने मूलधर्मों के भीतर किसी न किसी प्रकार के सुधारों के पक्षपाती थे। इसी प्रकार हिंदू धर्म के शैव संप्रदाय ने भी इस युग में वैसी ही प्रवृत्ति प्रदर्शित की और जैन धर्म के अनुयायियों मे से भी कई ने सुधार परक संप्रदाय स्थापित किये। उदाहरण के लिए कबीर साहब के प्रायः समसामयिक लौंकाशाह ने सं० १५०६ मे गुजरात के अतर्गत मूर्ति पूजन के विरुद्ध अपने उपदेश आरंभ किये, सं० १६५७ के लगभग मध्य भारत मे तारण स्वामी ने दिगंबर संप्रदाय के अनुयायियों मे अपना 'तारण पंथ' चलाया। इसी प्रकार सं० १७१० मे श्वेतांबर संप्रदाय वालो का भी एक वैसा ही ढूंढिया वा स्थानकवासी नामक साधुमार्ग प्रतिष्ठित हुआ। इसके सिवाय प्रसिद्ध विद्वान जैन कवि बनारसी दास सं० १६४३—१७०० ने उत्तर प्रदेश में इसके पहले से ही 'तेरापंथ' संज्ञक एक सुधार परक आंदोलन का प्रचार आरंभ कर दिया था। फलतः जैन मुनियो को ऐसे वातावरण मे और भी अधिक प्रोत्साहन मिला और उनकी रचनाओ में संत साहित्य संबंधी अनेक बातों के उदाहरण प्रचुर मात्रा में दीख पड़ने लगे। इनमे न केवल उसके साथ वर्ण्य विषय का ही साम्य लक्षित हुआ अपितु भाषा एवं वर्णन शैली तक मे भी अपूर्व सादृश्य पाया गया।

जैन कवि बनारसी दास काव्य रचना में स्वयं अत्यत निपुण थे और उनकी भावाभिव्यक्ति एवं शब्दयोजना दोनों ही सर्वथा प्रशंसनीय

हैं। वे अपने समकालीन संत कवि सुंदरदास की भाँति गूढ़ से गूढ़ दार्शनिक विषयों को भी अपनी रचनाओं में बड़ी सफलतापूर्वक प्रकट कर देते थे। उन्हें अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार था और वे काव्य-शास्त्र के नियमो से भी पूर्ण परिचित थे। उनकी उपलब्ध कृतियों मे अनेक ऐसे स्थल आते हैं जहाँ की शब्दावली एवं मुहावरे तक कबीर साहब जैसे संत कवियों की रचनाओं मे पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए वे कहते हैं—

चेतन तूं तिहुं काल अकेला,
नदी नाव संजोग मिलै ज्यों, त्यों कुटंब का मेला ॥ टेक ॥
यह संसार असार रूप सब, ज्यों यह पेखन खेला।
सुख संपति शरीर जल बुद बुद, बिनसत नाहीं वेला ॥

× × ×

कहत बनारसि मिथ्या मत तज, होय सुगुरु का चेला।
तास वचन परतीत आन जिय, होइ सहज सुरझेला ॥ २ ॥[1]

और यहाँ पर संत साहित्य की वर्णन शैली से कोई अंतर नहीं दीख पड़ता। इसी प्रकार वे फिर अन्यत्र भी कहते हैं—

भोंदू भाई समुझ शबद यह मेरा,
जो तूं देखैं इन आंखिन सों, तामैं कछू न तेरा ॥ टेक ॥
ए आंखें भ्रमही सौं उपजी, भ्रमही के रस पागी।
जहं जहं भ्रम तहं तहं इनकौ श्रम, तूं इन ही कौ रागी ॥
तेरे दृग मुद्रित घट अन्तर, अन्धरूप तूं डोलै।
कै तो सहज खुलै वे आंखें, कै गुरु सङ्गति खोलै ॥८॥[2]

तथा,

---

[1] बनारसी विलास, जयपुर सं० २०११, पृ० २२२

[2] वही, पृ० २२४-५

रणक्षेत्र में संग्राम के छिड़ने, 'धारणा' की आग में 'मिथ्यामति' की लंका के भस्म होने, 'अज्ञान' विषयक राक्षस कुल के भी नष्ट हो जाने, 'दुराशा' की मंदोदरी के मूर्छित हो पड़ने तथा इसी प्रकार 'राग' एवं 'द्वेष' नामक दोनों सेनापतियो के जूझने एवं 'संशय' गढ़ के विध्वस्त हो जाने का भी सांगरूपक द्वारा वर्णन किया गया है। अंत में कहा गया है,

इह विधि सकल साधु घट अंतर, होय सहज संग्राम।
यह विवहार दृष्टि रामायण, केवल निश्चय राम ॥८॥[1]

जिससे स्पष्ट है कि कवि का उद्देश्य यहाँ पर केवल शुद्ध नैतिक समस्या के ही रूप का अंकन करना रहा होगा।

परंतु इनसे प्रायः दो सौ वर्ष पीछे अपने 'घट रामायन' ग्रंथ की रचना करने वाले हाथरस के संत तुलसी साहब ने पूरी 'रामायण' की कथा का रूपक एक दूसरे प्रकार से ही बाँधा है। इनके उसी ग्रंथ से पता चलता है कि ये अपने को प्रसिद्ध गो० तुलसीदास से अभिन्न समझते थे और इनका कहना था कि मैंने उस रूप मे जिस रामायण, 'राम चरित मानस' की रचना की थी उसका मर्म और ही है। 'मानस' में जिस कथा का वर्णन किया गया है वह, इनके अनुसार, केवल एक रूपक मात्र है। जिसका स्पष्टीकरण ये, 'घट रामायण' द्वारा करते हैं। ये वहाँ पर कहते हैं,

घट में सुरति सैल जस कीन्हा। कागभुसुंड भाखि तस दीन्हा॥
काग भुसुंड कितहुँ नहिं भयऊ। तुलसी सुरति मैल तन कहेऊ॥
काग भुसुंड काया के मांही। राम रमा सुख पैठा जाई॥
तुलसी ताकी गति मति जानी। रामायन में कीन्ह बखानी॥

× × ×

सरजू सुरति अवध दस द्वारा। ये घट भीतर देखि निहारा॥
रावन कुंभ लंकपति राई। त्रिकुटी ब्रह्म बसै तेहि मांही॥

---

[1] बनारसी विलास, पृ० २२३

पिय मोरे घट, मैं पिय माहिं। जल तरंग ज्यों द्विविधा नाहिं ॥१६॥[1]

जहाँ जान पड़ता है कि ये जैसे कबीर साहब के 'राम' वा 'साहब' के ही संबंध में अपना विरहभाव प्रकट कर रहे हों जो वस्तुतः सही नहीं है। इसके सिवाय इन्होंने अपनी एक रचना 'पहेली' में भी जो 'सुमति' एवं 'कुमति' नामक दो पत्नियों का वर्णन रूपक द्वारा किया है वह बहुत कुछ संतमत का ही भाव लिए हुए है और उसकी भी शब्दावली पर संत साहित्य की छाप लगी है। ये वहाँ उन दोनों की तुलना के साथ आरंभ करते हैं और उन दोनो में एक संक्षिप्त वार्तालाप करा कर उसके अंत में, इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

हिय आंगन में प्रेम तरु, सुरति डार गुण पात।
मगन रूप ह्वै लहलहै, बिना द्वन्द दुख बात ॥१०॥[2]

कवि बनारसीदास ने अपनी उनयुक्त रचना 'अध्यातम गीत' की ही दूसरी पंक्ति में लिखा है।

अवधि अयोध्या आतम राम। सीता सुमति करे परणाम ॥[3]

और उन्होंने अन्यत्र, अपने एक पूरे पद में ही 'रामायण' की कथा के युद्ध प्रसंग का रूपक बाँध कर विवेकशील पुरुषो के भीतर प्रायः जागृत होते रहने वाले अंतर्द्वंद्व का बड़ा सजीव चित्रण किया है। वे उस पद को

विराजै रामायण घट माहि।
मरमी होय मरम सो जाने, मूरख मानै नाहिं ॥टेक॥

से आरंभ करते हैं तथा राम-रावण युद्ध वाले प्रमुख पात्रो के नाम लेते हुए उनके लिए भिन्न-भिन्न उपमानों की सृष्टि करते हैं और, इसी ढंग से उसकी अन्य प्रासंगिक बातों का भी उल्लेख करते हैं। इस पद में भी 'आतम' ही राम है और 'सुमति' ही सीता है। किंतु यहाँ पर 'विवेक' के

---

[1]बनारसी विलास, पृ० १६६-१६२
[2]वही, पृ० १८०-१ [3]वही, पृ० १६६

वादिन को कर सोच जिय, मन में ॥ टेक ॥
वनज किया व्यापारी तूंने, टांडा लादीं भारी रे ।
ओछी पूँजी जूआ खेला, आखिर दाजी हारी रे ॥

× × ×

कहत बनारसि सुनि भवि प्राणी, यह पद है निरवाला रे ।
जीवन मरन कियो सो नाहीं, सरपर काल निशाना रे ॥ इ० ॥[1]

इसी प्रकार कवि बनारसी दास ने अपनी एक रचना 'अध्यात्म गीत' के अंतर्गत दापत्यभाव के अनुसार वर्णन किया है जिसमें कबीर साहब की भावधारा के साथ ही साथ उनकी शब्दावली तक से विचित्र सादृश्य दीख पड़ता है उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं ।

मेरा मन का प्यारा जो मिलै, मेरा सहज सनेही जो मिलै ।.टेक॥

× × ×

मैं विरहिन पिय के अधीन, यों तलफों ज्यों जल विन मीन ॥३॥
बाहिर देखूं तो पिय दूर, घट देखे घट में भरपूर ॥४॥
घट माहि गुप्त रहै निराधार । वचन अगोचर मन के पार ॥५॥
अलख अमूरति वर्णं न कोय, कबधों पिय को दर्शन होय ॥६॥
सुगम सुपंथ निकट है ठौर, अंतर आड विरह की वौर ॥७॥
जउ देखौं पिय की उनहार, तनमन सर्वस डारौं वार ॥८॥
होहुं मगन मैं दरसन पाय, ज्यों दरिया में बूंद समाय ॥९॥
पिय को मिलौं अपनपो खोय । ओला गालि पानी ज्यों होय ॥१०॥
मैं जग ढूंढ़ फिरी सब ठौर, पिय के पटतर रूप न और ॥११॥
पिय जग नायक पिय जग सार, पिय की महिमा अगम अपार ॥१२॥
वसौं सदा मैं पिय के गाउ, पिय तज और कहां मैं जाउं ॥१७॥

× × ×

---

[1] प्रो० राजकुमार जैन, अध्यात्म-पदावली, काशी, सन् १९५४ ई०, पृ० २०३-५

रावन ब्रह्म कहा हम जोई। त्रिकुटी लंक ब्रह्म है सोई॥
मंदोदरी भभीषन भाई। इंद्रजीत सुत त्रिकुटी मांही॥

× × ×

रावन राम सकल परिवारा। ये घट भीतर चुनि चुनि मारा॥[1]

जिससे पता चलता है कि ये किसी राजयोग जैसी साधना की चर्चा कर रहे हैं। इनके यहाँ 'रामायण' के कई पात्र केवल 'मन' के ही विविध रूप दर्शाते हैं। अतएव, 'घट रामायन' में जहाँ रामायण की कथा 'सुरति सैल' के आधार पर बतलायी गयी है, वहाँ बनारसीदास के पद में वह 'विवहार दृष्टि' से ही आती है।

बनारसीदास के समकालीन एक जैनकवि पंडित रूपचंद भी थे जिन्हें वे गुरुवत् मानते थे और बहुत बड़ा विद्वान भी समझते थे। रूपचंद की एक रचना 'परमार्थी दोहा शतक' नाम से प्रसिद्ध है जिसके कई दोहे जैन मुनियों की रचनाओं का अनुसरण करते हैं और जिन्हें हम संतों की पंक्तियों के भी सर्वथा अनुकूल भाव व्यक्त करते हुए पाते हैं। उदाहरण के लिए उनके दो दोहे इस प्रकार हैं,

चेतन चित परिचय विना, जपतप सबै निरत्थ।
कन विन तुस जिमि फटकते, आवै कछू न हत्थ॥
भ्रमतै भूल्यौ अपनपौ, खोजत किन घट माहि।
विसरी वस्तु न कर चढ़ै, जो देखैं घर माहिं॥[2]

बनारसीदास के अनंतर विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में भी अनेक ऐसे जैन कवि हुए जिनकी रचनाओं में इस प्रकार की बातें मिलती हैं। भैया भगवती दास का रचना-काल सं० १७३१ से सं० १७५५ तक माना

---

[1]घट रामायन, पृ० ४२-३ एवं २१४-५

[2]कामता प्रसाद जैन: हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १०७

रणक्षेत्र में संग्राम के छिड़ने, 'धारणा' की आग में 'मिथ्यामति' की लंका के भस्म होने, 'अज्ञान' विषयक राक्षस कुल के भी नष्ट हो जाने, 'दुराशा' की मंदोदरी के मूर्छित हो पड़ने तथा इसी प्रकार 'राग' एवं 'द्वेष' नामक दोनो सेनापतियो के जूझने एवं 'संशय' गढ़ के विध्वस्त हो जाने का भी सांगरूपक द्वारा वर्णन किया गया है। अंत में कहा गया है,

इह विधि सकल साधु घट अंतर, होय सहज संग्राम।
यह विवहार दृष्टि रामायण, केवल निश्चय राम ॥८॥[1]

जिससे स्पष्ट है कि कवि का उद्देश्य यहाँ पर केवल शुद्ध नैतिक समस्या के ही रूप का अकन करना रहा होगा।

परंतु इनसे प्रायः दो सौ वर्ष पीछे अपने 'घट रामायन' ग्रंथ की रचना करने वाले हाथरस के संत तुलसी साहब ने पूरी 'रामायण' की कथा का रूपक एक दूसरे प्रकार से ही बाँधा है। इनके उसी ग्रंथ से पता चलता है कि ये अपने को प्रसिद्ध गो० तुलसीदास से अभिन्न समझते थे और इनका कहना था कि मैंने उस रूप में जिस रामायण, 'राम चरित मानस' की रचना की थी उसका मर्म और ही है। 'मानस' में जिस कथा का वर्णन किया गया है वह, इनके अनुसार, केवल एक रूपक मात्र है। जिसका स्पष्टीकरण ये, 'घट रामायण' द्वारा करते हैं। ये वहाँ पर कहते हैं,

घट में सुरति सैल जस कीन्हा। कागभुसुंड भाखि तस दीन्हा॥
काग भुसुंड कितहुं नहिं भयऊ। तुलसी सुरति सैल तन कहेऊ॥
काग भुसुंड काया के मांही। राम रमा सुख पैठा जाई॥
तुलसी ताकी गति मति जानी। रामायन में कीन्ह बखानी॥

× × ×

सरजू सुरति अवध दस द्वारा। ये घट भीतर देखि निहारा॥
रावन कुंभ लंकपति राई। त्रिकुटी ब्रह्म बसै तेहि मांही॥

---

[1]बनारसी विलास, पृ० २३२

रावन ब्रह्म कहा हम जोई। त्रिकुटी लंक ब्रह्म है सोई॥
मंदोदरी भभीपन भाई। इंद्रजीत सुत त्रिकुटी मांही॥

× × ×

रावन राम सकल परिवारा। ये घट भीतर चुनि चुनि मारा॥[1]

जिससे पता चलता है कि ये किसी राजयोग जैसी साधना की चर्चा कर रहे हैं। इनके यहाँ 'रामायण' के कई पात्र केवल 'मन' के ही विविध रूप दर्शाते हैं। अतएव, 'घट रामायन' में जहाँ रामायण की कथा 'सुरति सैल' के आधार पर बतलायी गयी है, वहाँ बनारसीदास के पद में वह 'विवहार दृष्टि' से ही आती है।

बनारसीदास के समकालीन एक जैनकवि पंडित रूपचंद भी थे जिन्हें वे गुरुवत् मानते थे और बहुत बड़ा विद्वान भी समझते थे। रूपचंद की एक रचना 'परमार्थी दोहा शतक' नाम से प्रसिद्ध है जिसके कई दोहे जैन मुनियों की रचनाओं का अनुसरण करते हैं और जिन्हें हम संतों की पंक्तियों के भी सर्वथा अनुकूल भाव व्यक्त करते हुए पाते हैं। उदाहरण के लिए उनके दो दोहे इस प्रकार हैं,

चेतन चित परिचय बिना, जपतप सबै निरत्थ।
कन बिन तुस जिमि फटकते, आवै कछू न हत्थ॥
भ्रमतै भूल्यौ अपनपौ, खोजत किन घट माहि।
बिसरी वस्तु न कर चढ़ै, जो देखै घर माहिं॥[2]

बनारसीदास के अनंतर विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में भी अनेक ऐसे जैन कवि हुए जिनकी रचनाओं में इस प्रकार की बातें मिलती है। भैया भगवती दास का रचना-काल सं० १७३१ से सं० १७५५ तक माना

---

[1]घट रामायन, पृ० ४२-३ एवं २१४-९

[2]कामता प्रसाद जैन : हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १०७

जाता है। ये भी एक उच्च कोटि के प्रतिभाशाली कवि थे। इनकी रचनाओं में 'आतम' रस चाख्यौ मैं अद्भुत, पायो परमदयाल',[1] तथा 'चेतहु चेत सुनहु रे भैया, आप ही आप संभारो'[2] जैसी अनेक पंक्तियाँ पायी जाती हैं। इनके समकालीन भूधरदास की पंक्तियाँ इनसे और भी अधिक स्पष्ट हैं और इनकी वर्णनशैली भी बहुत कुछ कबीर साहब का अनुसरण करती हैं। इनकी ऐसी रचनाओं की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं,

भगवंत भजन क्यों भूला रे ॥टेक॥
यह संसार रैन का सुपना, तन धन वारि बबूला रे ॥१॥
इस जीवन का कौन भरोसा, पावक में तृण पूला रे।
काल कुदार लिये सिर ठाड़ा, क्या समझै मन फूला रे ॥२॥[3]

और,

अंतर उज्वल करना रे भाई!
कपट कृपान तजै नहिं तबलौं, करनी काज न सरना रे।
बाहिर भेष क्रिया उर शुचि सौं, कीये पार उतरना रे!
नाहीं है सब लोक रंजना, ऐसे वेदन वरना रे॥
कामादिक मल सौं मन मैला, भजन किये क्या तिरना रे।
'भूधर' नील वसन पर कैसे, केसर रंग उछरना रे॥[4]

तथा,

सुन ठगिनी माया, तैं सब जग खाया।
टुक विश्वास किया जन तेरा, सो मूरख पिछताया॥

× × ×

---

[1]कामता प्रसाद जैन : हिंदी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० २४२-४३

[2]अध्यात्म पदावली, पृ० ६१ 'प्रस्तावना' [3]वही, पृ० ६४

[4]वही, पृ० ६८-७०

केते कंथ किये तैं कुलटा, तौ भी मन न अघाया।
किस ही सौं नहिं प्रीति निबाही, वह तजि और लुभाया॥
'भूधर' ठगत फिरत यह सबकों, भौंदू करि जग पाया।
जो इस ठगनी कों ठग बैठे, मैं तिसको सिर नाया॥[1]

इसके सिवाय कवि भूधरदास के 'पद संग्रह' में एक ऐसा भी पद आया है जिसमें चरखे का रूपक है। इसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं,

चरखा चलता नही, चरखा हुआ पुराना ॥टेक॥
पग खूंटे दुअ हलन लागे, उर मदरा खखराना।
छीदी हुई पाखंडी पसली, फई नहीं मन माना॥१॥
रसना तकली ने बल खाया, सो अब कैसे खूटै।
सबद सूत सूधा नहिं निकसै, घड़ी-घड़ी पल टूटै॥२॥
× × ×
मोटा मेंहीं कातकर भाई, कर अपना सुरझेरा।
अंत आग में ईंधन होगा, 'भूधर' समझ सबेरा॥५॥[2]

जैन कवि आनदघन कदाचित्, इन दोनों कवियों से कुछ पहले हो चुके हैं। इनकी दो पुस्तकें इस समय उपलब्ध हैं जिनमें से 'आनंदघन चौबीसी' के अंतर्गत चौबीसों तीर्थंकरों की प्रशस्ति लिखी गयी है और 'आनंदघन बहोत्तरी' मे विभिन्न धार्मिक विषयों पर पदों की रचना की गयी है। इन दोनो में से, विशेषतः दूसरी में, 'अजपा', 'अनहद', 'अवधू', 'सुरत', 'समाधि', और 'ब्रह्म अग्नि परजाली' जैसे शब्दों या समूहों की संख्या अधिक दीखती है। इनका एक प्रसिद्ध पद भी इस रूप में उपलब्ध है,

राम कहो, रहमान कहो कोउ, कान कहो महादेव री।
पारसनाथ कहौ, कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेवरी॥

---

[1] अध्यात्म पदावली, पृ० ७१-२
[2] हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १७५

भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खंड कल्पना रोपित, आप अखंड सरूप री ॥
निजपद रमे राम सो कहिए, रहिम करै रहिमान री।
कर्षे करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाणरी ॥
परसै रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्है सो ब्रह्मरी।
इहि विधि साधो आप आनंदघन, चेतनमय निष्कर्मरी ॥६६॥[1]

जिसमें चेतन के लिए दी गयी विभिन्न संज्ञाओ की चर्चा की गई है। इसकी वर्णन शैली ठीक संतों जैसी ही लगती है और वह, संभवतः उसके प्रभाव से प्रभावित भी है। इसी प्रकार हम एक अन्य जैन कवि द्यानतराय जन्म सं० १७३३ की भी निम्नलिखित रचना में इस बात का एक स्पष्ट उदाहरण पाते हैं; जैसे,

अब हम अमर भए न मरेंगे ॥
तव कारन मिथ्यात दियौ तज क्योंकरि देह धरेंगे ॥
उपजै मरै काल तें प्रानी, तातें काल हरैगें।
राग द्वेष जगबंध करत हैं, इनको नाश करेंगे।
देह विनाशी, मैं अविनाशी भेद ज्ञान पकरेंगे।
नाशी जासी हम थिरवासी, चोखे ह्वौ निखरेंगे ॥
मरे अनंत बार बिन समझे, अब सब दुख बिसरेंगे।
द्यानत निपट निकट दो अक्षर, बिन सुमरै सुमरेंगे ॥४५॥[2]

इस पद को पढ़ते ही हमे कबीर साहब की वह पद स्मरण होता है जिसका आरंभ 'हम न मरैं मरिहै संसारा, हमकूं मिल्या जियावन हारा' से होता है।[3] ऐसा ही इनका एक दूसरा पद नीचे लिखे अनुसार है जिसके साथ संत रैदास जी के पद का आश्चर्यजनक साम्य दीखता है। जैसे,

---

[1]अध्यात्म पदावली, पृ० २७२-३ [2]वही, पृ० १६२
[3]कबीर ग्रंथावली, पद ४३, पृ० १०२

ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई, पवन थंमै मन कितहुं न जाई ॥

× × ×

सो तप तपो बहुरि नहि तपना, सो जप जपो बहुरि नहिं जपना ।
सो व्रत धरो बहुरि नहिं धरना, ऐसौ मरौ बहुरि नहिं मरना ॥[1]

संत रैदास जी का पद इस प्रकार मिलता है,

ऐसा ध्यान धरौं वरौं बनवारी । मन पवन दे सुख मन नारी ॥टेक॥
सो जप जपौं जो बहुरि न जपना । सो तप तपौं जो बहुरि न तपना ॥१॥
सो गुरु करौं जो बहुरि न करना । ऐसौ मरौं जो बहुरि न मरना ॥६॥[2]

यहाँ पर द्यानतराय दूसरे को उपदेश दे रहे हैं जहाँ रैदास जी अपने विषय में वर्णन कर रहे हैं, किंतु दोनो ही कवि लगभग एक ही प्रकार की साधना की ओर संकेत करते हैं ।

संतों एवं जैनकवियों की रचनाओं में पायी जाने वाली इस प्रकार की समानता के कुछ उदाहरण हमें उन्नीसवीं शताब्दी में भी मिलते हैं । पंडित दौलत राम उसी शताब्दी के प्रथम चरण में वर्तमान थे और एक अच्छे विद्वान थे । इन्होंने अपने एक पद में इस प्रकार कहा है,

हम तो कबहूं न निज घर आये ।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये ॥

× × ×

यह बहु भूल भई हमरी फिर, कहा काज पछताये ।
'दौल' तजौ अजहूं विषयन में, सतगुरु वचन सुहाये ॥[3]

जो संतों की ही वर्णन-शैली का स्मरण दिलाता है । इसी प्रकार इस काल के एक अन्य जैन कवि बुधजन हैं जो नीतिपरक रचनाओं के

---

[1]अध्यात्म पदावली, पृ० २६७
[2]रैदास जी की बानी, पृ० २६-२७ [3]अध्यात्म पदावली, पृ० २२६

निर्माणों में भी बहुत प्रसिद्ध हैं। ये भी अपने एक पद में कबीर साहब की भाँति कहते हैं,

करलै हो जीव, सुकृत का सौदा करलै,
परमारथ कारज करलै हो।

× × ×

व्यापारी बन आइयौ, नर भव हाट संसार।
फल दायक व्यापार कर, नातर विपति तयार॥
मोह नींद माँ सोवता, डूबौ काल अटूट।
बुधजन क्यों जागै नहीं, कर्म करत है लूट॥[1]

जैन कवि ज्ञानानंद की रचना में भी हमें ऐसा स्वर सुन पड़ता है। इनकी एक चेतावनी की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं,

भोर भयो, उठ जागो, मनुवा साहब नाम संभारो ॥टेक॥
सूतां सूतां रैन विहानी, अब तुम नींद निवारो।

\+ + + ×

खिन भर जो तूं याद करोगे, सुख निपजैगौ सारो।
वेला बित्यां है पछतावै, क्यूं कर काज सुधारो॥[2]

परंतु उपर्युक्त प्रकार की अनेक समानताओं के रहते हुए भी संतों एवं जैन कवियों की रचनाओं में बहुत कुछ अंतर दीख पड़ता है। संत कवि जहाँ अधिकतर अशिक्षित और अनभिज्ञ थे वहाँ जैन कवियों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। फलतः दोनों वर्ग वालों की रचनाओं में न केवल परिमार्जित भाषा के प्रयोग के ही अंतर है, अपितु उनमें वर्ण्य विषय संबंधी भिन्नता भी आ गयी है। जैन कवि जहाँ अपने धर्म विशेष की मान्यता तथा उसकी पारिभाषिक शब्दावली की ओर भी स्वभावतः आकृष्ट हो पड़ते हैं वहाँ संत कवियों में वैसी बात लक्षित नहीं होती।

---

[1] अध्यात्म पदावली, पृ० २४८ [2] वही, पृ० २७०

ये अधिक से अधिक ऐसे समन्वयवादी ही कहे जा सकते हैं जिनकी भाव-धारा में विविध धर्मों में विषय धर्मों एवं दर्शनों के विचार स्त्रोत आकर मिल गये हों। इसके सिवाय संतो की बानियों में जहाँ किसी अनिर्वचनीय सत्ता की ओर भी संकेत जान पड़ता वहाँ जैन कवियों के लिए वह वस्तुतः कोई अनुपम आदर्श मात्र ही है। अतएव संतों की एक पृथक् परंपरा-सी बन गयी है जो जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, सूफ़ी अथवा किसी भी धर्म वा संप्रदाय से भिन्न कही जा सकती है।

भोजपुरी के संत कवि

भोजपुरी वस्तुतः उत्तरप्रदेश के कतिपय पूर्वी जिलों तथा बिहार प्रांत के पश्चिमी भाग की भाषा है। इसी कारण इसके आदर्श रूप का क्षेत्र बलिया, गाजीपुर, आजमगढ, देवरिया, बनारस, मिर्जापुर, जौनपुर तथा शाहाबाद, सारन, चंपारन जैसे वर्तमान जिलों के न्यूनाधिक अंशों तक सीमित समझा जा सकता है। यह भूभाग चिरकाल से विचार-स्वातंत्र्य के प्रेमी, क्रांतिकारी, साहसी, निर्भीक और स्पष्टवादी व्यक्तियों का कार्यक्षेत्र बना रहता आया है और इसमें अनेक महापुरुषों ने जन्म ग्रहण भी किया है। महात्मा गौतम बुद्ध ने, सर्वप्रथम, यहीं के ऋषिपत्तन सारनाथ में अपने विचारों को उपदेश के रूप में प्रकट किया था और यहीं की काशी नगरी में सुदूर प्रांतों तक के महान आचार्यों ने समय-समय पर आकर अपने-अपने मतों के महत्व को कसौटी पर कसने तथा तदनंतर उनका प्रचार करने की चेष्टा आज तक अनेक बार की है। इसी प्रदेश के निवासी प्रसिद्ध पठान शेरखा ने मुगल बादशाह हुमायूं को परास्त किया था और यहीं के बाबू कुंवर सिंह ने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध मोर्चा लिया था। इसके सिवाय निर्गुनिया संतों की परंपरा को सर्व प्रथम सुव्यवस्थित रूप देने वाले तथा अपने पीछे 'आदि संत' तक के नाम से विख्यात कबीर साहब के जन्मस्थान का गौरव प्राप्त करने वाली भूमि भी इसी प्रदेश का एक अंग है।

संत कबीर साहब के जीवन काल का सर्वाधिक अंश, कदाचित् काशी में ही व्यतीत हुआ था और यद्यपि सारी रचनाओं की भाषा को आज हम भोजपुरी का नाम नहीं दे सकते फिर भी, इसमें संदेह नहीं कि उनकी अनेकानेक महत्त्वपूर्ण पंक्तियों का प्रचलित रूप हमें उन्हें मूलतः भोजपुरी ही ठहराने की ओर प्रवृत्त करता है। कबीर साहब ने अपनी बोली को

स्वयं भी पूरबी नाम दिया है जिसका यदि आध्यात्मिक अर्थ न लगाया जाय तो वह भोजपुरी का बोधक हो सकता है। कबीर साहब के भोजपुरी भाषाभाषी होने का एक परिणाम यह हुआ कि उनके मत को स्वीकार करने वाले अन्य क्षेत्रों के संतों ने भी उनके अनुकरण में इस बोली को महत्व देना आरंभ कर दिया और वे इसमें अपनी रचनाएँ तक करने लग गये। कहा जाता है कि कबीर पंथ की छतीसगढ़ी शाखा के प्रवर्तक धर्मदास वर्तमान विंध्यप्रदेश में अवस्थित बाधोगढ़ के मूल निवासी थे। किंतु उनकी उपलब्ध रचनाओं को देखने से पता चलता है कि उन्होंने बहुत से अपने पदों का निर्माण भोजपुरी मे ही किया था। पीछे इनके अन्य अनुयायियों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया और अपनी अनेक सुंदर पंक्तियाँ इस भाषा मे ही प्रस्तुत कीं।

कबीर साहब की ही भाँति इस प्रदेश के निवासी एक संत रामानंद भी थे जिनका निवास स्थान पटना (जिला गाजीपुर) था। इनके अलावा इनके शिष्य दयानंद के भी किसी पद का पता नहीं चलता और न इन दोनों में से किसी के जीवनवृत्त का ही हमें कोई परिचय मिलता है। परंतु जहाँ तक दयानंद की शिष्या बावरी साहिबा के विषय में उपलब्ध संकेतों से पता चलता है, उनका एक पृथक् संप्रदाय ही चल पड़ा जो आज तक बावरी पंथ के नाम से प्रसिद्ध है और जिसके अनुयायियो के अनेक मठ आज भी वर्तमान हैं। बावरी साहिबा के प्रमुख शिष्य बीरू साहब थे जिनकी रचनाओं से पता चलता है कि वे किसी भोजपुरी गाँव के ही निवासी थे और उनकी शिष्य-प्रशिष्यों की परंपरा मे भी बहुत से ऐसे संत हुए जिनका निवासस्थान इसी क्षेत्र का ही कोई न कोई नगर वा गाँव था। बूला साहब तथा गुलाल साहब भुरकुड़ा जिला गाजीपुर के रहने वाले थे और इन दोनों द्वारा रचे गए भोजपुरी पदों की संख्या बहुत बड़ी है। इसी प्रकार संत गुलाल साहब के शिष्य और जिला आजमगढ़ के निवासी भीखा साहब की भी बहुत-सी रचनाएँ भोजपुरी भाषा मे पायी जाती हैं। इन संतों की कविता में पूरा ओज है और इन्होंने अपनी

भोजपुरी रचनाओं में माधुर्य का भी प्रचुर मात्रा में समावेश कर दिखाया है। इनसे भी श्रेष्ठ भोजपुरी कविता संत पलटूदास की कही जा सकती है जो वस्तुतः फैजाबाद जिले के निवासी थे। किंतु जिन्होंने अपने दादा गुरु भीखा साहब एवं उनसे भी अधिक संत कबीर साहब के अनुसरण में अत्यंत सजीव पंक्तियों की रचना कर डाली है।

भोजपुरी प्रदेश के ही गाजीपुर नगर के निवासी संत दुखहरन भी थे जिनकी रचनाओं में से 'पुहुपावती' नाम की एक प्रेमगाथा तथा 'भक्तमाल' नामक एक अन्य ग्रंथ भी उपलब्ध हैं। इन दोनो में ही कहीं न कहीं हमें भोजपुरी भाषा के उदाहरण मिल जाते हैं। जहाँ तक पता है, इन्होंने स्वयं कोई भी पंथ नहीं चलाया, किंतु इनके शिष्य शिवनारायण के नाम पर आज तक शिवनारायणी संप्रदाय प्रचलित है जिसके अनुयायी लाहौर, काबुल, कलकत्ता, बंबई तथा सुदूर दक्षिण अफ्रीका तक अच्छी संख्या में पाये जाते हैं। संत शिवनारायण का जन्म बलिया जिले के चंदवार गाँव में हुआ था और उन्होंने लगभग एक दर्जन ग्रंथो की रचना की है। इनकी भोजपुरी रचनाएँ अधिकतर पदो के रूप मे पायी जाती हैं और वे हरिजनों के समाज में बड़े प्रेम और धड़ल्ले के साथ गायी जाती है। बलिया जिले के ही चदाडीह गाँव के निवासी रामचंद्र पंडित भी थे जिनके शिष्य नवनिधिदास ने सीतारामी संप्रदाय का प्रचार किया। इस संप्रदाय के अनुयायियो में भी हरिसेवक, जयकृष्ण आदि कई संत कवि हो गए हैं जिनकी कुछ भोजपुरी रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। इसी प्रकार बलिया जिले के कारों ग्राम निवासी एक बाबा शिवराम भी हो गए हैं जिनकी पुस्तक 'भक्त जयमाल' में हमें भोजपुरी की पंक्तियाँ मिलती हैं। इनके शिष्य प्रसिद्ध कीनाराम अघोरी की रचना 'पोथी विवेकसार' नाम से प्रसिद्ध है। संत कीनाराम बनारस जिले के निवासी थे, किंतु उनके द्वारा प्रचारित 'औघड़ पंथ' बहुत दूर तक प्रचलित है। भोजपुरी क्षेत्र के अंतर्गत हमें गुरु नानक देव के नाम पर प्रचलित 'नानकशाही संप्रदाय' तथा उनके पुत्र श्रीचंद द्वारा प्रवर्तित 'उदासी संप्रदाय' के भी अनुयायी

अच्छी संख्या में मिलते हैं और उनमें से कुछ की रचनाएँ भोजपुरी में भी पायी जाती हैं। संत सुवचनादासी एक ऐसी ही कवियित्री रह चुकी हैं जिनके भोजपुरी के अनेक पद उनकी रचनाओं के संग्रह ग्रंथों में पाये जाते हैं और वे बड़े मार्मिक भी हैं।

भोजपुरी क्षेत्र के पश्चिमी बिहार प्रांत वाले संत कवियों में बाबा धरनीदास को सर्वप्रमुख स्थान दिया जाता है। बाबा धरनीदास जिला सारन के माँझी गाँव में रहते थे और उनको बहुत-सी रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनमें से कई एक भोजपुरी में भी हैं। ये संत दुखहरन की ही भाँति 'प्रेम-प्रकाश' नामक एक प्रेमगाथा के भी रचयिता हैं और इनकी फुटकर कविताएँ 'प्रेमप्रकाश' में संगृहीत हैं। इनकी फुटकर कविताओं में जो भोजपुरी के पद हैं वे अत्यंत सरस और सुंदर हैं। इन्होंने उनमें प्रायः सर्वत्र मुहावरेदार भाषा के प्रयोग किए हैं और उनका शब्द विन्यास एवं अलकार योजना विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। संत पलटूदास की भोजपुरी रचनाओं में जहाँ हमें विशेष ओज एवं प्रवाह के गुण देखने को मिलते हैं वहाँ बाबा धरनीदास की वैसी पंक्तियों में पद लालित्य को छटा भी दीख पड़ती है। काव्य-रचना करते समय ये दोनों ही कवि आत्मविभोर हो जाया करते हैं और अपने निर्माण-कौशल द्वारा हमारा मन अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। बाबा धरनीदास के धरनी संप्रदाय का प्रभाव केवल पश्चिमी बिहार में ही न होकर उत्तरप्रदेश के बलिया जिले में भी उसी प्रकार का है। परतु आश्चर्य है कि उसके प्रवर्त्तक के अतिरिक्त किसी अन्य वैसे संत की रचनाएँ हमें ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलतीं। जान पड़ता है कि इस संप्रदाय के अनुयायियों ने पीछे जितना ध्यान विशुद्ध जीवन-निर्माण की ओर दिया है उतनी उन्होंने साहित्य सर्जन की चिंता नहीं की है।

पश्चिमी बिहार प्रांत के सारन जिला वाले उक्त धरनीश्वरी संप्रदाय की ही भाँति उसके शाहाबाद जिले का 'दरियापंथ' भी प्रसिद्ध है जिसके प्रवर्त्तक सत दरिया साहब नामक एक महान पुरुष थे। संत दरिया की

जन्म भूमि उस जिले का धरकंधा नामक गांव था और वे बाबा धरनीदास के पचासो वर्ष पीछे तक वर्तमान थे। दरिया पंथ के अनुयायी उत्तरप्रदेश में भी मिलते हैं। संत दरिया साहब द्वारा लिखे गए अथवा रचित बीस ग्रंथो तक का पता चलता है। इनमे से केवल किसी-किसी में ही भोजपुरी दीख पड़ती है। इन्होने अपने को सत कबीर साहब का अवतार बतलाया था और उन्हीं की भाँति ये रचना करने की भी चेष्टा करते थे। इनके 'शब्दो' के सग्रह ग्रंथ में हमें भोजपुरी रचनाओ के उदाहरण अधिक सख्या में मिलते हैं और कई एक इनकी अन्य पुस्तकों में भी पाये जाते हैं। किंतु इनकी पक्तियों में जितनी एक धर्मप्रचारक की दृष्टि काम करती जान पड़ती है उतना उनमें काव्य-सौष्ठव का पता नहीं चलता। इस बात में सत दरियादास संत शिवनारायण के समान जान पड़ते हैं और इन दोनों की भोजपुरी की रचनाएँ भी प्रायः एक ही स्तर की हैं। इन दोनो से अधिक उच्चकोटि की रचनाएँ विरंचि गोसांई की कही जा सकती हैं जो दामोपुर जिला बलिया के निवासी थे और जिन्होने किसी संप्रदाय विशेष का प्रचार न करके अपने उद्गार केवल व्यक्तिगत रूप से ही व्यक्त किए हैं।

बिहार प्रांत के संत साहित्य की यह एक विशेपता रही है कि उसका निर्माण अभी आधुनिक समय तक निरंतर होता आया है। इसके लिए बहुत कुछ श्रेय वहाँ के उन दो सम्प्रदायों को दिया जा सकता है जो 'सखी संप्रदाय' तथा 'सरभंग सप्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हैं। सखी संप्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक 'लछिमी सखी' नाम द्वारा अभिहित किये जाते हैं। उनका जन्म सारन जिले के अमनौर गांव में स० १८६८ मे हुआ था तथा उनका पहले का नाम केवल लछिमीदास ही था। उनकी रचनाओ मे से 'अमर सीढ़ी', 'अमर कहानी', 'अमर फारास', 'अमर बिलास' तथा 'हटाका' प्रकाशित हो चुकी है और उनकी भाषा भोजपुरी है। इनमें लगभग पाँच सहस्र पद संगृहीत हैं जिनमे झूमर, ठुमरी, सावनी, पुरबी, खेमटा, गारी, होरी एव शब्द जैसे विविध गीतो का समावेश किया

गया है। लछिमी सखी के पाँच प्रधान शिष्य हैं जो क्रमशः कामता सखी, सिद्धनाथ सखी, प्रतीप सखी, गीता सखी एवं त्यागी सखी के नामों द्वारा प्रसिद्ध हैं। इन चेलों में से भी कई ने कुछ न कुछ गेय पदों का निर्माण किया है। सखी संप्रदाय की विशेषता उसके अनुयायियों द्वारा अपने इष्ट-देव को दांपत्य भाव की दृष्टि से आराधित किया जाता है। ये लोग अपने को वैष्णव से भिन्न नहीं माना करते। किंतु इनकी विचारधारा का अधिक मेल निर्गुनिया संतो के सिद्धांतों से ही प्रतीत होता है। इनकी एक अन्य विशेषता इनके बहुधा अघोर पंथियों जैसा व्यवहार करने में भी दीख पड़ती है। इनके भजनों में लगभग वे सभी विषय आये हैं जो हमें संत कबीर साहब तथा अन्य उस प्रकार के संतो की रचनाओं में मिलते हैं। उनकी वर्णन शैली भी बहुत कुछ वैसी ही है।

सरभंग संप्रदाय का सबसे अधिक प्रचार चंपारन जिले में दीख पड़ता है। इसके सर्व प्रथम प्रवर्त्तक का पता नहीं चलता, किंतु उपलब्ध रचनाओ के आधार पर कहा जा सकता है कि उसके प्रमुख प्रचारकों में भिखराम, टेकमन राम आदि ही रहे होंगे। इनकी पंक्तियों में भी वही भावधारा प्रधानतः लक्षित होती है जो निर्गुनियों के संत साहित्य में सुरक्षित है और इनकी भाषा भी भोजपुरी है। अघोर पंथ द्वारा प्रभावित होने में इस संप्रदाय के अनुयायी सखी संप्रदाय वालों से भी बढ़ कर कहे जा सकते हैं। किंतु उनकी साधना में उस दांपत्य भाव का प्राचुर्य नही जो सखी संप्रदाय वालों की सबसे बड़ी विशेषता है। 'सरभंग' शब्द के वास्तविक अर्थ का पता नहीं चलता और कभी-कभी लोग इसे किसी प्रसिद्ध प्राचीन ऋषि का नाम होना मात्र सिद्ध करना चाहते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि इसे हम स्वरभग शब्द का रूपांतर भी मान सकते हैं जिसका अर्थ, इस सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा स्वर-साधना को महत्व देना कहा जा सकता है। किंतु न तो इस संप्रदाय का कोई संबंध सरभंग ऋषि से प्रमाणित होता और न स्वर-साधना इसकी विशेषता ही ठहरती है। यह शब्द यदि 'सरभंग' अथवा 'सर्वांग' शब्द का किंचित् विकृत रूप मान लिया

जाय तो यह संप्रदाय के व्यापक सिद्धांतों का बोधक बन सकता है। इस संप्रदाय के अनुयायियों की रचनाओं से पता चलता है कि इनके यहाँ किसी प्रकार के विधि निषेध को महत्त्व नहीं दिया जाता प्रत्युत एक नितांत उदारतापरक एवं स्वच्छंद जीवन को आदर्श माना जाता है जो कभी कदाचित् वज्रयानी सिद्धों का भी परम ध्येय रहा।

योग परक साधना को ही विशेष महत्व प्रदान करने वाले आधुनिक संतों का यहाँ पर एक दूसरा भी वर्ग है जिसका नेतृत्व आजकल बाबा मेंहदीदास करते जान पड़ते हैं और उनका मुख्य स्थान पुर्निया है। इसके अनुयायी नाद एवं बिंदु की आध्यात्मिक व्याख्या करके उसके अनुसार सत्संग साधना पर अधिक बल देते हैं और यही इसके साहित्य का भी प्रमुख विषय है। बाबा मेंहदीदास को हम विशुद्ध भोजपुरी का कवि नहीं कह सकते किंतु उनकी रचनाओं में इसके प्रभाव की कमी भी नहीं है। उनकी काव्य-भाषा प्रधानतः अवधी कही जा सकती है और उनके वर्ग का मूल संबंध संभवतः अवध से ही जुड़ा हुआ है। अवध का प्रांत उत्तर-प्रदेश का अंग है और यहाँ पर सत्तनामी संप्रदाय की कोटवा शाखा प्रवर्तित की गई थी। उसके प्रवर्तक जगजीवन साहब के किसी मोहन साईं नामक शिष्य द्वारा प्रचलित 'साईंदाता' नामी संप्रदाय भी वहाँ जीवित है। बाबा मोहन दास अपने को बाबा देवी साहब का अनुयायी घोषित करते हुए प्रतीत होते हैं जिनका निकट संबंध सत्तनामी संप्रदाय से भी जोड़ा जा सकता है। अतएव हो सकता है इनके वर्ग वाले संतों की वास्तविक भाषा अवधी ही रही हो, किंतु बिहार के प्रचार क्षेत्र होने से भोजपुरी भी प्रयुक्त होने लगी हो। सारांश यह कि वर्तमान काल में भी अपने मतों के प्रचार-कार्य में निरत संत कवि भोजपुरी को महत्व देते जान पड़ते हैं।

संत कवियों के भोजपुरी गीतों का यदि कोई उदाहरण देना चाहें तो हम संत पलटू साहब का वह पद दे सकते हैं जो उनके शब्दों के संग्रहों में मिलता है। इसमें अत्यंत कोमल भावों को सरस एवं

मार्मिक शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है; जैसे,

प्रेम बान जोगी मारल हो कसके हिया मोर ॥
जोगिया के लाली लाली अखियाँ हो जस कंवल के फूल ।
हमरो त सुरुख चुनरिया हो दूनो भये तूल ॥१॥
जोगिया के लेंउ मिर्गछलवा हो आपन पट चीर ।
दूनो के सियब गुदरिया हो होई जाब फकीर ॥२॥
गगना मे सिंगिया बजाइन्हि हो ताकिन्हि मोरी ओर ।
चितवनि में मन हरि लियो हो जोगिया बड़ चोर ॥३॥
गंग जमुनवा के बिचवा हो बहै झिरहिर नीर ।
तेहि ठैयाँ जोरल सनेहिया हो हरि ले गइले पीर ॥४॥
जोगिया अमर मरै नाहिंन हो पुजवल मोरी आस ।
करम लिखा बर पावल हो गावै पलटूदास ॥५॥

संत कवियों की भोजपुरी रचनाएँ

भोजपुरी बोली का प्रदेश चिर-काल से विचार-स्वातंत्र्य के प्रेमी, साहसी एवं क्रांतिकारी व्यक्तियों का कार्यक्षेत्र रहता आया है। महात्मा गौतम बुद्ध ने सर्व प्रथम, इस प्रदेश के ही ऋषिपत्तन (सारनाथ) में अपने नवीन विचारों को व्यक्त किया था। उनका प्रचार करने के लिए अपने शिष्यों को यहाँ से चारों ओर भेजा भी था। उनका प्रायः सारा जीवन-काल इस प्रदेश में भ्रमण करते बीता और यहीं से उनका संदेश विश्व के कोने-कोने तक पहुँच गया। सारनाथ की निकटवर्तिनी काशी नगरी की एक प्रमुख विशेषता इस बात में भी देखी गयी है कि भिन्न-भिन्न मतों के प्रचारक वहाँ पर एक बार कभी-न कभी अवश्य आया करते थे। उनका वहाँ के पंडितों के साथ बहुधा शास्त्रार्थ भी होता था और उनकी यह काशी-यात्रा उनके लिए कसौटी का काम कर देती थी। पूर्वकाल में यहाँ पर कई प्रसिद्ध गणतंत्रों की भी स्थापना हुई थी, जिन्होंने सैदपुर-भीतर के निकट विदेशी आक्रमक हूणों को पराजित किया था।

इधर के इतिहास काल में भी, इस प्रदेश के निवासी पठान शेरखाँ ने मुगल बादशाह हुमायूँ के विरुद्ध मोर्चा लेकर उसे परास्त किया था तथा बाबू कुँवर सिंह ने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध छिड़ने वाले भारत के प्रथम स्वातंत्र्य संग्राम में अपने अपूर्व साहस का परिचय दिया था। इस प्रदेश के निवासियों की निर्भीकता, स्पष्टवादिता, साहसिकता एव स्वातंत्र्य प्रियता के अनेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं।

'निर्गुनिया' संतों की परंपरा का सूत्रपात भी पहले-पहल इसी भोजपुरी प्रदेश में हुआ था। संतमत की सारी बातें स्वानुभूति को महत्व प्रदान करती हैं और वह कतिपय स्वाधीनचेता महापुरुषों की ही साधना तथा विचारधारा का परिणाम है। इसके सर्व प्रथम प्रमुख प्रचारक संत कबीर

साहब थे, जो काशी नगरी के निवासी थे और जिनकी बोली भोजपुरी थी। अपनी बोली को उन्होंने अपनी एक साखी में 'पूरबी' बतलाया है,[1] जिसका अभिप्रायः आध्यात्मिक समझा जाता है, किंतु जिसका साधारण अर्थ पूरब की बोली है। 'पूरबिया' शब्द साधारणतः 'मध्य-प्रदेश के पूर्व' वाले प्रांत के निवासी के लिए प्रयोग में आता है और हेनरी यूल तथा ए० सी० बर्नेल ने 'पूरब' एवं 'पूरबिया' की व्याख्या करते हुए लिखा है—'उत्तरी भारत में इस शब्द से प्रायः अवध, बनारस तथा बिहार से तात्पर्य है। अतएव 'पूरबिया' शब्द का प्रयोग उन सिपाहियों के लिए किया जाता था जो बंगाल की सेनाओं में इन स्थानों से भर्ती होते थे'।[2] इनमें से बनारस अर्थात् कबीर साहब के निवास-स्थान काशी नगरी की बोली 'बनारसी' तो निस्संदेह भोजपुरी का ही एक रूप है। इसके सिवाय इधर के लोग आजकल भी कभी-कभी गवैयों से 'अब एगो पुरबी गाईं' कह कर भोजपुरी गीत के लिए ही अनुरोध करते दीख पड़ते हैं। अतएव, डा० उदयनारायण तिवारी का यह कथन कि 'कबीर की मूल वाणी का बहुत-कुछ अंश उनकी मातृभाषा बनारसी बोली में ही लिखा गया था'[3] तथ्य से अधिक दूर जाता नहीं प्रतीत होता और इस बात के लिए प्रमाण भी दिए जा सकते हैं। कबीर साहब एक पर्यटनशील और बहुश्रुत व्यक्ति थे, जिस कारण संभव है, उन्होंने भोजपुरी के अतिरिक्त अन्य बोलियों में भी रचना की होगी, किंतु यह भी स्पष्ट है कि उनके बहुत-से पदादि का रूप उनकी अधिक प्रसिद्धि के कारण, विकृत

---

[1] मेरी बोली पूरबी, ताइ न चीन्है कोई।
मेरी बोली सो लखै, जो पूरब का होई ॥२॥
(कबीर-ग्रंथावली, पृष्ठ ७८, पाद-टिप्पणी)

[2] कबीर की भाषा (डा० उदयनारायण तिवारी) हिंदी अनुशीलन प्रयाग, वर्ष २, अंक ३, पृ० २ पर उद्धृत

[3] वही।

और परिवर्तित भी हो गया है। आज यह कहना सरल नहीं जान पड़ता है कि उनकी अमुक रचना मूलतः भाषा विशेष में ही रही होगी।

कबीर साहब की प्राचीन एवं प्रामाणिक समझी जानेवाली रचनाएँ प्रायः तीन प्रकार के संस्करणों में पायी जाती हैं। इनमें से एक में राजस्थानी भाषा की प्रधानता है, दूसरा पंजाबी द्वारा प्रभावित है और तीसरा अवधी के साँचे में ढला हुआ है। पहले के अंतर्गत अधिकतर वे रचनाएँ आती हैं जो दादूपंथियों एवं निरंजनियों के संग्रहों में मिलती हैं और जिनके उदाहरण 'काशी-नागरी- प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'कबीर ग्रंथावली' में उपलब्ध हैं तथा दूसरे प्रकार के नमूने 'आदिग्रंथ' संगृहीत हैं। इसी प्रकार तीसरे वर्ग मे उन रचनाओं को संमिलित किया जा सकता है जो 'कबीर-बीजक' के रूप में सुरक्षित हैं। परंतु इन सभी में यत्र-तत्र भोजपुरी बोली के शब्द, वाक्य अथवा कभी-कभी लगभग समूचे पद तक पाये जाते हैं, केवल थोड़ा-सा ही रूपांतर मिला करता है। उदाहरण के लिए, 'कबीर-ग्रंथावली' से नीचे लिखे अवतरण दिये जा सकते हैं,

(१) हरि मरिहैं तौ हमहूँ मरिहैं (पद ४३, पृ० १०२)
(२) जलहै तनि बुनि पांन न पावल (पद ५०, पृ० १०४)
(३) प्रेम खटोलवा कसि-कसि बाँध्यौ (पद ७७, पृ० ११२)
(४) गोविंद के गुन बैठे गैहैं, खैहैं टुकरो रौरे (पद ८४, पृ० ११५)
(५) जाइ परौ हमरौ का करिहैं......
इंद्री स्वादि विषै रस बहिहैं (पद १४३, पृ० १३४)
(६) धीरौ मनवाँ तोहि धरि टाँगौ......
प्रेम की जेंवरिया तेरे गलि बाँधू (पद २१३, पृ० १६०)

इसी प्रकार, उक्त 'ग्रंथावली' के ऐसे ही लगभग समूचे पद के उदाहरण में डा० तिवारी ने निम्नलिखित रचना दी है—

मैं बुनि-करि सिराँना हो राम, नालि करम नहिं उबरे॥
दखिन कूंट जब सुनहाँ भूँका, तब हम सुगन विचारा।

लरके परके सब जागत हैं, हम घरि चोर पसारा हो राम ॥
ताँना लीन्हाँ वाना लीन्हाँ, लीन्हें गोड के पउवा ।
इत उत चितवत कठवन लीन्हा, माँड चलवना डउवा हो राम ॥[1]

जिसमें केवल 'मैं', को 'में' 'सिराँना', को सिरइलों, 'भूँका' को 'भूँकल', 'विचारा' को 'विचरलो', 'जागत हैं' को 'जागतारे', 'पसारा' को 'पसरले' और 'लीन्हा' को 'लिहलो' मात्र कर देने से ही उसका भोजपुरी रूप बन सकता है।

'आदिग्रंथ' या 'गुरुग्रंथ साहिब' के भी हम इस बात के उदाहरण में राग गूजरी का एक पद इस प्रकार दे सकते हैं,

चारि पाव दुइ सिंग गुंग मुख, तब कैसे गुन गईहै ।
ऊठत बैठत ठेंगा परिहै, तब कत मूँड लुकईहै ॥
हरि बिनु बैल बिराने हुईहै ।
फाटे नाकन टूटे काँधन, कोदोउ के भुसु खईहै ।
सारो दिनु डोलत मन महीआ, अजहु न पेट अघईहै ।[2]

तथा 'कबीर-बीजक' का निम्नलिखित पद बतला सकते हैं,

अब हम भइलि बाहर जल मीना, पुरव जनम तप का मद कीन्हा ।
तहिया मैं अछलों मन बैरागी, तजलौं मैं लोग कुटुम राम लागी ।
तजलौं कासी मति भै भोरी, प्राननाथ कहु का गति मोरी ।
हमहीं कुसेवक तुमहीं अयाना, दुइ मंह दोस काहि भगवाना ।
हम चलि अइलीं तोहरे सरना, कतहु न देखहुँ हरिजी के चरना ।
हम चलि अइलों तोहरे पासा, दास कबीर भल कैल निरासा ।[3]

जिसमें भगवान गोसाईं के पाठानुसार महत्त्वपूर्ण अंतर केवल 'पुरव'

---

[1] पद २, पृ० ६५ हिंदी-अनुशीलन, प्रयाग; वर्ष २, अंक ३. पृ० ५ पर उद्धृत

[2] गुरुग्रंथ साहिबजी, पृ० ५२४

[3] बीजक, पृ० ६५-६

के 'पुश्चिल', 'अछलौ' के अचलो', 'तजलौ' के 'तेजलों', तुमहि के 'तुई', 'देखहुँ' के 'देखो', 'अइलों के 'ऐली' तथा 'कैल' के 'कैलहुँ' में ही दीख पड़ता है। अवधी प्रधान रचनाओं के संग्रहों में 'बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग' वाला संस्करण भी प्रसिद्ध है, जिसमें भोजपुरी बोली का एक पद इस रूप में आया है,

कौनो ठगवा नगरिया लूटल हो ॥टेक॥
चंदन काठ के बनल खटोलना, तापर दुलहिन सूतल हो।
उठो री सखी मोरी माँग सँवारो, दुलहा मोसे रूसल हो।
आये जमराज पलंग चढ़ि बैठे, नैनन आँसू टूटल हो।
चारि जने मिलि खाट उठाइन, चहुँ दिसि धूधू ऊठल हो,
कहत कबीर सुनो भाइ साधो, जग से नाता छूटल हो।[1]

इसी प्रकार के एक अन्य (शातिनिकेतन वाले) संग्रह में भी कुछ ऐसे ही पद आये हैं जिनका अँगरेजी अनुवाद भी डा० रवींद्रनाथ ठाकुर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वन हड्रेड पोयम्स ऑव् कबीर' मे किया है।[2]

संत कबीर साहब द्वारा अपनाये जाने के कारण भोजपुरी का महत्त्व उनके पछे और भी बढ़ गया। उनके नाम पर चलाये गये कबीर-पंथ का अनुसरण करने वाले लोगों ने उनकी वाणी का आदर की दृष्टि से देखा और उसका अनुकरण किया। उनके प्रसिद्ध शिष्यों में धर्मदास का नाम लिया जाता है और उन्हें बाँधवगढ़ (विंध्य-प्रदेश) का निवासी बतलाया जाता है। कबीर-पंथ को मध्य-प्रदेश में प्रचलित करने में उनका सबसे अधिक हाथ रहा। किंतु उनकी भी बहुत-सी रचनाएँ भोजपुरी में ही मिलती हैं जिनके द्वारा कभी-कभी अनुमान होने लगता है कि

---

[1] कबीर साहेब की शब्दावली (पहला भाग), पृ० २२

[2] दे० पोयम नं० ६६ जो 'मन ना रँगाये' आदि का अँगरेजी अनुवाद है।

वे इस प्रदेश में भी बहुत दिनों तक रह चुके होंगे। धर्मदास की समझी जाने वाली रचनाओं का एक संग्रह 'वेलेवेडियर प्रेस, प्रयाग' से प्रकाशित है; जिसका एक पद यह है,

मितऊ मड़ैया सूनी करि गैलो ॥ टेक ॥
अपन बलम परदेस निकरि गैलो,
हमरा के कुछवो न गुन दै गैलो ॥१॥
जोगिन होइ के मैं बन बन ढूढौं,
हमरा के बिरह बैराग दै गैलो ॥२॥
सँग के सखी सब पार उतरि गैली,
हम धनि ठाढ़ी अकेली रहि गैलो ॥३॥
धरमदास यह अरज करतु है,
सार सब्द सुमिरन दै गैलो '॥४॥[1]

इसमें लक्षित होनेवाला यत्किंचित् रूपांतर इसके प्रचार के कारण है।

संत कबीर साहब के अनतर जो संतों की परपरा चल निकली, उसमें कई एक संत भोजपुरी प्रदेश के भी हुए। 'बावरी-पंथ' नाम का एक ऐसा ही संप्रदाय इस प्रदेश के गाजीपुर जिले में सर्वप्रथम स्थापित हुआ था, जिसका प्रचार दिल्ली तक हुआ। बावरी साहिबा के दादा गुरु दयानंद एवं परदादा गुरु रामानंद ग्राम पटना (जिला गाजीपुर) के ही निवासी बतलाए जाते हैं। फिर इनकी शिष्य परंपरा के भी बूला साहेब, गुलाल साहेब और भीखा साहेब आदि संतों का प्रचार-केंद्र उसी जिले के भुरकुड़ा ग्राम में स्थापित हुआ जहाँ से उनका पथ अन्य प्रांतों में फैलता गया। बूला साहेब (सं० १६८६-१७६६) जाति के कुरमी थे और वे दिल्ली के यारी साहेब द्वारा दीक्षित होकर यहाँ पर सत्संग करते थे। उनकी साधना बहुत गंभीर थी। उनका एक भोजपुरी पद इस प्रकार है,

सत गुरु नावल अधर हिंडोलना। हम धनि झूलब सुघर हिंडोलना ॥१॥

---

[1] धरमदास जी की शब्दावली, पृ० १२

झूलत-झूलत गइलुँ गगनहि तटना। तहवाँ साधन का देखलुँ अखरना॥२॥
संत सुहावन जगमग देखलना। तहवाँ प्रान हमारा समैलना॥३॥
अबकी समैले फिर न अइबना। जन बूला गावल निरगुन हिंडोलना॥४॥[1]

इसमें सुरत-शब्द-योग की अनुभूति का एक परिचय दिया गया है।

बूला साहब के शिष्य गुलाल साहब ने उनसे भी अधिक भोजपुरी रचनाएँ की हैं और वे बहुत सुंदर हैं। वे अपनी साधना एवं अनुभूति का परिचय बड़े सरल शब्दों में देते हैं और इस प्रकार अपनी रचनाओं को ललित एवं चित्ताकर्षक भी बना देते हैं। इनके गुरु बूला साहब इन्हीं के यहाँ पहले बुलाकीराम के रूप मे हलवाही कर चुके थे, जब इन्होंने उनसे दीक्षा ग्रहण की थी। इनके भोजपुरी पदों के उदाहरण भी नीचे लिखी रचनाएँ दी जा सकती हैं।

मनुवाँ मोर भइल रँग वाउर, सहज नगरिया लागल ठाउर।
ऊदित चंद झरे तहँ मोती, गरत अमी उहाँ नाम के जोती॥
अँगना बहारि के बाँधल केसा, कइलूँ सिंगरवा गइलूँ पिया देसा।
आनंद मंगल बाजत तूर, फरल लिलार भइलूँ पिय के हजूर॥
छोटमुट रुखवा बहुत पसरवा, तेहि तर हम धनि मँजलूँ चरवा।
कहत गुलाल राम रस पाई, मगन भइल जिव गइल बलाई॥[2]

तथा

आजु मल रावल रचल धमारी, कुहुकि कुहुकि हरि मिलल सुखारी॥
काया नगर में खेल पसारी, भरि-भरि रूप थकलि नौ नारी॥
जगर मगर अति लगत पियारी, बाजत अनहद धुनि झनकारी॥
तहाँ ना रवि ससि पुरुष ना नारी, आपुहि अपने भइल कुमारी॥
कहत गुलाल हम फाग विचारी, अब न खेलब सतगुरु बलिहारी॥[3]

इनमें गुलाल साहब ने अपने निजी अनुभव का वर्णन किया है।

---

[1] बुल्ला साहब का शब्दसागर, पृ० १९-२०

[2] गुलाल साहब की बानी, पृ० १०४ [3] वही, पृ० १०४-५

भीखा साहब गुलाल साहब के शिष्य थे और उनकी गद्दी पर, भुरकुड़ा में, उनके अनंतर सत्संग भी कराते रहे। उन्होंने भी अपने गुरु एवं दादागुरु की भाँति भोजपुरी में पदों की रचना की है। उनके पदों में साधना का स्पष्ट वर्णन विशेषतः उल्लेखनीय है। वे अपने एक ऐसे ही पद में इस प्रकार कहते हैं,

जोग जुगति कै हिंडोलवा, गुरु सहज लखावल।
चाँदै राखि सूर पौढ़ावल, पवन डोरि धै पावल॥
अरध उरध सुख पावल, पुलकि-पुलकि छबि भावल।
गगन मगन गुन गावल, सुरति निरति में समावल॥
भीखा एहि विधि मन लावल, आतम दरसावल॥[1]

इन भीखा साहब के शिष्य गोविंद साहब के ही शिष्य पलटू साहब थे जो अपनी महत्ता के कारण दूसरे कबीर तक माने जाते थे। इनका मूल निवास स्थान फैजाबाद जिले में था और ये अत तक अयोध्या में ही रहे थे। किंतु इन्होंने अपनी बोली अवधी के अतिरिक्त भोजपुरी में भी अपनी बानियों की रचना की और इस प्रकार परंपरा का निर्वाह किया। इनका एक भोजपुरी पद इस प्रकार है—,

प्रेम बान जोगी मारल हो, कसकै हिया मोर ॥टेक॥
जोगिया कै लाली लाली अँखिया हो, जस कँवल कै फूल।
हमरी त सुरुख चुनरिया हो, दूनो भये तूल॥
जोगिया के लेउ मिर्गछलवा हो, आपन पट चीर।
दूनौ के सियब गुदरिया हो, होइ जाब फकीर॥
गगना में सिंगिया बजाइन्हि हो, ताकिन्हि मोरी ओर।
चितवन में मन हरि लियो हो, जोगिया बड़ चोर॥
गंग जमुन के बिचवा हो, बहै झिरहिर नीर।
तेहि ठैयाँ जोरल सनेहिया हो, हरि लै गयो पीर॥

---

[1] भीखा साहब की शब्दावली, पृ० ४६

जोगिया अमर मरे नाहिंन हो, पुजवल मोरी आस ।
करम लिखा वर पावल हो, गावै पलटूदास ॥[1]

इस प्रकार, पलटूदास के ऐसे पदों में न केवल भेद एवं ज्ञान की बातें हैं; अपितु वे बड़ो सरस शैली मे कही भी गई हैं ।

भोजपुरी प्रदेश के अन्य संत कवियों में बाबा धरनीदास का नाम भी प्रसिद्ध है जो माँझी, जिला सारन, के निवासी थे । ये एक पहुँचे हुए महात्मा थे और इनके धरनीश्वरी संप्रदाय का बहुत-कुछ प्रचार उत्तर प्रदेश में भी हुआ था । संत पलटूदास की ही भाँति इनकी भी बहुत-सी रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें भोजपुरी के बहुत सुंदर और सजीव पद हैं । यहाँ पर इनकी 'उधवा प्रसंग' तथा 'महराइ' नामक दो रचनाओं के कुछ अंश क्रमशः दिये जाते हैं,

धरनी एह मन औरा भैला हो गुर भैला व्याध ।
बान सबद हिये चुभी गैला हो दरसन साध ॥
धरनी जेहो धनी विरहनि हो मन धीजै न धीर ।
बिहबल बिकल बिलखि चित हो दुबर शरीर ॥
धरनी धीरज न रहे हो बीनु बनवारि ।
रोअत रकत के ऑंसुवन हो पंथ निहारि ॥
धरनी पिअ परवत पर हो हिए चढ़त डेराउ ।
क्यहिक पाँव उगामगी हो तव काहाँ ठाँउ ॥
धरनी धरकत हिय जनु हो, हो करक करेज ।
ढरकत भरि-भरि लोचन हो, पिय नाहीं सेज ॥[2]

—उधवा प्रसंग

तथा

नाहि पर ठाढ़ केवल एक मजरा, जबरजी बरनी न जाए ।

१ पलटू साहब की बानी, भा० ३, पृ० २२-३
२ उधवा प्रसंग, हस्तलिखित प्रति, पृ० ८९-९

मन अनुमान कहत जन धरनी, धन जे सुन पतिआए ॥
पाव दुवो पउआ परम झलकार । दुरहुर स्याम तन लाम लहकार ।
लमहरि केसिआ पतरि करिहाव । पीअरी पिछौरी कटि कहते न आव ॥
चंदन की खोरि भरेला सब अंग । धारा अनगनीत वहेला जनु गंग ॥
माथे मनि मुकुट लकुट सुठि लाल । झिनवा तिलक सोभे तुलसी माल ॥
निक नाक पतरी ललौटी बड़ी आँखि । मुकुट मझारे एक मोरवा के पाँखि ॥
कान दुओ कुंडल लटक लट झूल । दाढ़ी गोंछ नुतन जैसन मखतूल ॥
परफुलित बदन मधुर मुसुकात । ताही छवि उपर धरनि बलि जात ॥
मन कइला दंडवत भुइआ धरि सीस । माथे हाथे धरि प्रभु देलन्हीं असीस ॥ [1]

—महराइ

बाबा धरनीदास के उपर्युक्त दूसरे पद में सगुण भक्तों की भाँति श्रीकृष्ण के रूप का वर्णन किया गया मिलता है। परंतु वे वस्तुतः निर्गुण-परंपरा के ही संत कवि थे, यद्यपि उनकी वर्णन-शैली सदा उसी प्रकार की नहीं रहा करती थी। उनका एक और पद है,

पिया मोरा बसै गउर गढ़, मैं बसौं प्राग हो।
सहजहिं लागु सनेह, उपजु अनुराग हो ॥
असन बसन तन भूषन, भवन न भावै हो।
पल पल समुझि सुरति मन, गहबरि आवै हो ॥
पथिक न मिलहि सजन जन, जिनहिं जनावो हो।
बिहवल बिकल बिलखि चित, चहुँ दिशि धावो हो ॥
होइ अस मोहि ले जाइ, कि ताहि ले आवै हो।
तेकरि होइबों लउँड़िया, जे रहिया बतावै हो ॥
तबहि त्रिया पत जाइ, दोसर जब चाहै हो।
एक पुरुष समरथ धन, बहुत न चाह हो ॥
धरनी गति नहिं आनि, करहु जस जानहु हो।

---

[1] शब्द-प्रकाश, हस्तलिखित प्रति, पृ० ४३०-१

मिलहु प्रगट पट खोलि, भरम जनि मानहु हो ॥[1]

बिहार के एक अन्य संत दरिया दास ने भी भोजपुरी में लिखा है। ये धरकंधा, जिला शाहाबाद के रहनेवाले थे और इनकी भी बहुत-सी रचनाओं का पता चलता है, जिनमे संतमत की बातें प्रकट की गई हैं। इनके दरियादासी सम्प्रदाय का प्रचार बिहार के अतिरिक्त उत्तरप्रदेश के भी कई जिलो मे है और उसके कई मठ भी स्थापित हैं। इनका एक भोजपुरी पद है,

अबकी के बार बकसु मोरे साहब, जनम जनम के चेरि हे।
चरन कँवल मैं हृदय लगाइब, कपट कागज सब फारि हे।
मैं अबला किछुओ नहीं जानौ, परपंचन के साथ हे।
पिया मिलन बेरी इन्ह मोरा रोकल, तब जिव भयेल अनाथ हे।
जब दिल में हम निहचे जानल, सूझि परल जमफंद हे।
खुलल दृष्टि दिया मनि लेसल, मानहु सरद के चंद हे॥
कह दरिया दरसन सुख उपजल, सुख दुख दूरि बहाय हे ॥[2]

बिहार के दरियादास की भाँति उत्तर प्रदेश के संत शिवनारायण ने अपनी शिवनारायणी संप्रदाय चलाया था। इनका जन्म चंदवार नामक गाँव में हुआ था, जो उस समय गाजीपुर जिले में पड़ता था, किंतु अब बलिया जिले में है। इनके मत का प्रचार लाहौर, बम्बई, कलकत्ता तथा दक्षिणी अफ्रिका तक में यत्र-तत्र पाया जाता है। कहा जाता है कि इनके व्यक्तित्व का प्रभाव इनके समकालीन बादशाह रंगीले मुहम्मदशाह तक पर पड़ा था, और वह उन्हें बहुत मानता था। उनके गुरु दुखहरन भी सभवतः गाजीपुर के ही निवासी थे। उनकी भी कुछ रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनमे भोजपुरी के उदाहरण हैं। दुखहरन की एक रचना 'भक्तमाल' नाम से प्रसिद्ध है, जो अभी तक अपकाशित रूप मे है। उसमें

---

[1] धरनीदासजी की बानी, पृ० २

[2] दरिया साहेब के चुने हुए शब्द, पृ०४

भोजपुरी का एक दोहा इस प्रकार है,

झंखत झुखत रात दिन, लगन निअर अब आइ ।
बहुत विकल भई रुकुमिनी, तनिको कछु न सोहाइ ॥[1]

संत शिवनारायण की एक दर्जन से भी अधिक रचनाएँ बतलायी जाती है, जिनमें से कई एक में भोजपुरी के उदाहरण मिलते हैं। इनकी 'शब्दावली' का एक पद इस प्रकार है,

सूतल रहली मैं नींद भरी गुरु देहलें जगाय।
गुरु के चरन रज अंजन हो, लेहलिउँ नैन लगाय।
तबहीं से नीन न भावे हो, ना.ी मन अलसाय।
गुरु के चरन रज सागर हो, चलि सागरे नहाऊँ।
जनम जनम के पातक हो, छन में धुलि जाय।
पियलों मैं प्रेम पियाला हो, गयले मन अलसाय।
अगिया लागिय तन गइले हो, मोके किछु न सोहाय।
पहिरेउ सुमति गहनवा हो, देहली कुमति उतारि।
शब्द का माँग सँवारल हो, दुरमति बहवाइ।
सीस महल चढ़ि बैठिला हो, जहाँ चोरवो न जाइ।
शीवनराएन समरथ हो देखि काल डेराइ।[2]

इन्हीं का एक छोटा-सा पद निम्नलिखित है। इसमें कबीर साहब की शैली में कहा गया है,

तनि एक मनुआँ धरा तूँ धीर।
पाँच सखी आइल मोरे अँगना, पाँचों के हथवा में पाँच-पाँच तीर।
खँइचब गुन तब छोड़ब तीर, अुदाये सरन कर करो ततबीर।
शीवनराएन चीन्हल बीर, जनम जनम कर मेटल पीर।[3]

सत कबीर साहब संतों की परंपरा के आदि प्रवर्त्तक थे और उनका

---

[1]भक्तमाल, हस्तलिखित प्रति [2]शब्दावली, हस्तलिखित प्रति
[3]शब्दावली, ह० प्र०

प्रधान कार्यक्षेत्र काशी होने के कारण, उनकी बोली भोजपुरी का प्रभाव उनके नाम पर चलाये गये 'कबीर-पंथ' तथा आस-पास के प्रदेश में प्रवर्तित संप्रदायों पर स्वभावतः ही पड़ा। उपर्युक्त संत कवियों का संबंध भोजपुरी के साथ प्रत्यक्ष रूप में भी रहा और उन्होंने इसी के बोलने वालों में पहले पहल अपना प्रचार भी आरंभ किया। किंतु उनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी संत थे जिन्होंने अपनी भोजपुरी प्रदेश से अलग रहते हुए भी इसे कुछ-न-कुछ महत्व दिया। उदाहरण के लिए, मलूक-पंथ के प्रवर्त्तक संत मलूकदास तथा सत्तनामी संप्रदाय के अनुयायी संत दूलनदास की रचनाओं पर भी हमें कहीं-कहीं भोजपुरी बोली तथा उसमें प्रयुक्त वर्णन-शैली का प्रभाव प्रचुर मात्रा में दीख पड़ता है। इनके सिवाय सत तुलसी साहेब जैसे कई कवियों ने भोजपुरी के कुछ प्रिय छंदों के प्रयोग किये हैं और कबीर-पंथ एवं शिवनारायणी संप्रदाय ने उसका दूर-दूर तक प्रचार भी किया है।

संत-काव्य में वीर रस

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह माना जाता है। उत्साह एक ऐसा भाव है जिसके जाग्रत होते ही हमारे सामने किसी भावी सुख का एक ऐसा मनोरम चित्र खिंच जाता है कि उसके द्वारा हम सर्वथा आकृष्ट होने लगते हैं। हमारे भीतर एक प्राणधारा-सी फूट निकलती है जो हमारे सर्वांग मे पूर्णतः व्याप्त होकर हमें कार्यशील बना देती है। इसके कारण हममे एक अपूर्व क्षमता आ जाती है। हम उन कार्यों तक को करने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं जो हमारे लिए कभी दुःसाध्य अथवा असंभव कहे जा सकते थे। हम अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए सभी प्रकार से एकनिष्ठ बन कर तुल पड़ते हैं और अपने मार्ग में आनेवाली विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए भी आगे बढ़ते चले जाते हैं। उस समय हम एक ऐसा साहस प्रदर्शित करते हैं जो स्वयं हमारे जीवन तक को भी पूरे संकट में डाल सकता है। इस कारण कभी-कभी अपने प्राणों को सचमुच तिलांजलि देनी पड़ जाती है। उत्साह नाम का यही स्थायी भाव काव्य-शास्त्र के अनुसार, उपयुक्त विभावों, अनुभावों तथा संचारी भावों के संयोग से वीर रस में परिणत होता है। इसका सबसे उत्कृष्ट उदाहरण हमें उन रचनाओं में मिलता है जिनमे युद्ध में निरत रहने वाले शूरवीरों की चर्चा रहा करती है। ऐसे उदाहरणों मे वीर रस का आलंबन कोई शत्रु हुआ करता है, जिसके विविध कार्य कलाप एवं रणवाद्य आदि उद्दीपन का कार्य करते हैं। अनुभाव युद्ध संबंधी व्यापारो मे दीख पड़ते हैं और नायक की धृति, मति, गर्व, रोमांच आदि इसके लिए संचारी भाव बन जाते हैं।[1] ऐसे नायको को युद्ध वीर की संज्ञा दी जाती है।

---

[1] साहित्य दर्पण, परिच्छेद ३

युद्ध नहीं, इस कारण हम उसे भीतरी युद्ध का नाम दे सकते हैं। इस युद्ध में न तो किसी अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता पड़ती है और न किसी के प्राण वा संपत्ति का कभी नाश ही हुआ करता है। इसमें किसी प्रकार से सुसज्जित होना भी आवश्यक नहीं है। इसके सभी व्यापार गुप्त ढग से चलते हैं, किंतु इसके लिए किसी षड्यंत्र की युक्तियों का प्रयोग नहीं करना पड़ता। फिर भी इस युद्ध का परिणाम किसी व्यक्ति के जीवन के लिए बाहरी युद्ध की घटनाओं से किसी प्रकार भी कम निर्णयात्मक नहीं हुआ करता। बाहरी युद्ध का सकट उसमें भाग लेने वाले भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में बँट-सा जाता है और एक दूसरे को साथ में कष्ट पाता हुआ देखकर कुछ ढाढ़स भी बँध जाने का अवसर मिल जाया करता है, किंतु भीतरी युद्ध में केवल एक ही व्यक्ति को सारी वेदनाएँ सहनी पड़ती हैं और वह अकेला ही मरा-जिया करता है।

फिर भी इस भीतरी युद्ध का रूप उस अंतर्द्वंद्व का-सा नहीं होता जो बहुधा धर्म संकट के नाम से पुकारा जाता है। अंतर्द्वंद्व प्रायः प्रत्येक समझदार व्यक्ति के जीवन में कभी-कभी न पहले एक साधारण भावना या विचार के रूप में होता है और क्रमशः तर्क-वितर्क का सहारा लेकर बढ़ता हुआ, अंत में, हमारे सामने एक विकट समस्या बन कर उपस्थित हो जाता है। हमारे जीवन में घटना क्रमानुसार कभी-कभी एक ऐसा अवसर आता है, जब हम सहसा इस बात का निर्णय नहीं कर पाते कि दो भिन्न-भिन्न कर्तव्यो में से किसका पालन करना अधिक श्रेयस्कर होगा। हम इस पर जितना ही सोचते हैं, इसकी गंभीरता बढ़ती जाती है और किसी दलदल में फँसे व्यक्ति की भाँति इसमें उलझते चले जाते हैं। उस समय हमारे सामने विविध बातें सुहावने रूप धारण करके आने लगती हैं। उनके आकर्षण की खींचातानी में पड़ कर, हम अंत में, अपने को विवश और असहाय पाते हैं तथा हमारे ऊपर मोह-जाल का एक ऐसा घोर अंधकार छा जाता है कि हमें अपने मूल रूप का भी प्रत्यक्ष करना महा कठिन हो जाता है।

अंतर्द्वंद्व की दशा में हमारे चित्त की भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ आपस में टकराने लगती हैं जिस कारण कभी-कभी प्रतीत होता है कि हम आगे की ओर बढ़ रहे हैं। किंतु दूसरे ही क्षण हमें ऐसा लगता है कि हम किसी पीछे की ओर कार्य करने वाले खिंचाव के द्वारा ही ग्रस्त हैं। समस्या की जटिलता के अनुसार यह द्वंद्व हमारे हृदय के कोने-कोने तक को रौंद डालता है और वह किसी युद्ध स्थल से भी भयानक लगने लगता है। उसमें एक हाहाकार-सा मच जाता है और इस संघर्ष की आग से झुलस कर हमारे कई सुंदर से सुंदर तक आदर्श उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार बम गोलों के आघात से बाहरी लड़ाइयों में कुसुमित उद्यान तथा भव्य अट्टालिकाएँ हमारे सामने विध्वस्त हो जाती हैं। जिस समय राजा रामचंद्र रावण वध के अनंतर अयोध्या में राज कर रहे थे, किसी गुप्तचर ने आकर उन्हें उनकी रानी सीता के विषय में प्रचलित प्रवादों की सूचना दी। इस कारण कर्तव्यनिष्ठ एवं धर्म-परायण होने के नाते उन्हें एक ऐसे ही धर्म संकट का सामना करना पड़ गया। उस समय उन्हें एक ओर जहाँ अपने राजधर्म का उच्च आदर्श सीता-परित्याग की ओर उन्मुख कर रहा था वहाँ दूसरी ओर उनका पत्नी-प्रेम उस ओर से मुँह मोड़ने के लिए उभार रहा था। उनकी दशा परम बुद्धिमान एवं धैर्य शील होते हुए भी महाकवि कालि-दास के शब्दों में 'दोलाचल चित्त वृत्ति' की-सी हो गयी थी। राजा हरिश्चंद्र को काशी के श्मशान घाट पर तथा वीर अर्जुन को कुरुक्षेत्र के मैदान में भी प्रायः इसी प्रकार की समस्या ने विचलित कर उन्हें हतबुद्धि बना दिया था।

किंतु संतों का भीतरी युद्ध इस प्रकार किन्हीं भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्त्तव्यों के पारस्परिक घात-प्रतिघातों से उत्पन्न नहीं होता। उनका आधार नैतिक न होकर आध्यात्मिक हुआ करता है और उसे समस्या मूलक न कह कर हम संकल्प-मूलक ठहरा सकते हैं। जब कोई साधक अपने आध्यात्मिक जीवन का आरंभ करता है और अपने सद्गुरु के परा-

परतु उत्साह के भाव रूप में अत्यत व्यापक होने के कारण आचार्यों ने युद्ध वीर के अतिरिक्त अन्य प्रकार के वीरों की भी कल्पना की है। तदनुसार 'साहित्य दर्पण' के रचयिता ने वीर रस के चार भेद बताये हैं और उसे क्रमशः दान, धर्म, युद्ध एवं दया के आधार पर विभाजित किया है। पंडितराज जगन्नाथ का यह कहना है कि 'ये चारों भेद उत्साह के चतुर्विध होने के कारण किये गये हैं। वास्तव मे वीर रस के भी उसी प्रकार अनेक रूप हो सकते हैं जिस प्रकार शृंगार रस के। धर्मवीर में जिस प्रकार दानवीर और दयावीर का अंतर्भाव नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार उसमें सत्यवीर, क्षमावीर आदि का भी संमिलित कर दिया जाना उचित नहीं कहा जा सकता।'[1] श्री वियोगी हरि ने भी कदाचित् ऐसे ही विचारों से प्रेरित होकर 'शूर वीर' एवं 'युद्ध वीर' के उदाहरण पृथक्-पृथक् दिये हैं और नवीन 'विरह वीर' तक के गुणों को उदाहृत किया है। उनका कहना है "वीर रस का स्थायी भाव उत्साह, विशुद्ध विरह में, अच्छी मात्रा में पाया जाता है।"[2] वीरता का भाव वस्तुतः ऐसी अनेक बातों के साथ संबद्ध जान पड़ता है जो कई भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों में मिला करती हैं। साहस, धैर्य, दृढ़ता, उत्सर्ग, निर्भयता, आत्मविश्वास, एकातनिष्ठा, निर्द्वंद्वता, एव हृदय की सचाई आदि कुछ ऐसी बातें हैं जो केवल युद्धवीरों की ही विशेषता नहीं मानी जा सकती। सती, साधक एवं प्रेमी जनो मे इनके गुण कभी-कभी इतनी मात्रा में पाये जाते हैं, जितने युद्ध वीरों में भी सर्वत्र संभव नहीं है। अतः कवि लोग इनका वर्णन जहाँ कहीं भी करते हैं, वहाँ स्वभावतः वैसे ही ओजपूर्ण शैली और भाषा का प्रयोग करते हैं, जिसमे युद्ध वीरो की चर्चा की जाती है।

सत साहित्य में प्रबंध काव्यों का प्रायः अभाव-सा है, जिस कारण उसमें ठीक उसी ढंग के उदाहरण नहीं मिलते जैसे महाकाव्यादि में पाये

---

[1] हिंदी रस गंगाधर, पृ० ११९। [2] वीर सतसई, पृ० २, १० और ८ (टि०)

जाते हैं। संतों ने अधिकतर फुटकर पद्यों की ही रचना की है। उनमें से जो काव्य की कोटि में आने योग्य हैं, वे अधिक से अधिक मुक्तक कहला सकते हैं। मुक्तक की परिभाषा देते हुए आचार्य अभिनव गुप्त ने बताया है कि 'मुक्तक उसे कहते हैं जिसका (किन्हीं अन्य पद्यों के साथ) पूर्वापर संबंध न हो, किंतु जिसके (आधार पर) रस चर्वण अथवा रसास्वादन किया जा सके।'[1]

ऐसे संत काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता यह भी है कि वह अपने रचयिता के प्रायः निजी उद्गार के रूप में ही निर्मित हुआ पाया जाता है। वह उसकी स्वानुभूति पर आश्रित रहता है। इस कारण अन्य काव्यों की भाँति इसमें बाहरी उपकरणों को ढूँढ़ने की कोई आवश्यकता भी नहीं पड़ती। यदि काव्य शृंगार रस का है तो उसके लिए प्रेमी नायक एवं प्रेमपात्री नायिका अथवा प्रेमिका नायिका तथा प्रेमपात्र नायक को कहीं बाहर से लाने की आवश्यकता नहीं। संत कवि स्वयं प्रेमी या प्रेमिका बन जाता है और अपने घर में ही सदा वर्तमान प्रेमास्पद परमात्मा के प्रति प्रेमभाव व्यक्त करने लग जाता है। इसी प्रकार यह कवि वीर रस के काव्य की रचना करता है तो उस दशा में भी वह कहीं अन्यत्र दृष्टि डालना पसंद नहीं करता। यहाँ पर भी वह अपने मन को, इंद्रियों को, काम क्रोधादि मनोविकारों को अपना लक्ष्य बना लेता है और उनसे भीषण संग्राम छेड़ देता है। इसके लिए इसे किसी रणक्षेत्र की आवश्यकता नहीं और न इसे उत्तेजित करने के लिए किन्हीं रणवाद्य आदि का विद्यमान रहना ही आवश्यक है। सभी उसके घट के भीतर प्रस्तुत हैं और इसे उनकी ओर केवल एक बार अपना ध्यान देने मात्र की ही देर है।

यह युद्ध बाह्य कारणों से प्रेरित होता हुआ भी बाहर के मैदान का

---

[1]पूर्वापर निरपेक्षेणापि हि येन रस चर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्। हिंदी काव्यशास्त्र, पृ० १४ पर उद्धृत

युद्ध नहीं, इस कारण हम उसे भीतरी युद्ध का नाम दे सकते हैं। इस युद्ध में न तो किसी अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता पड़ती है और न किसी के प्राण वा संपत्ति का कभी नाश ही हुआ करता है। इसमें किसी प्रकार से सुसज्जित होना भी आवश्यक नहीं है। इसके सभी व्यापार गुप्त ढंग से चलते हैं, किंतु इसके लिए किसी षड्यंत्र की युक्तियों का प्रयोग नहीं करना पड़ता। फिर भी इस युद्ध का परिणाम किसी व्यक्ति के जीवन के लिए बाहरी युद्ध की घटनाओं से किसी प्रकार भी कम निर्णयात्मक नहीं हुआ करता। बाहरी युद्ध का संकट उसमें भाग लेने वाले भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में बँट-सा जाता है और एक दूसरे को साथ में कष्ट पाता हुआ देखकर कुछ ढाढ़स भी बँध जाने का अवसर मिल जाया करता है, किंतु भीतरी युद्ध में केवल एक ही व्यक्ति को सारी वेदनाएँ सहनी पड़ती हैं और वह अकेला ही मरा-जिया करता है।

फिर भी इस भीतरी युद्ध का रूप उस अंतर्द्वंद्व का-सा नहीं होता जो बहुधा धर्म संकट के नाम से पुकारा जाता है। अंतर्द्वंद्व प्रायः प्रत्येक समझदार व्यक्ति के जीवन में कभी-कभी न पहले एक साधारण भावना या विचार के रूप मे होता है और क्रमशः तर्क-वितर्क का सहारा लेकर बढ़ता हुआ, अंत में, हमारे सामने एक विकट समस्या बन कर उपस्थित हो जाता है। हमारे जीवन मे घटना क्रमानुसार कभी-कभी एक ऐसा अवसर आता है, जब हम सहसा इस बात का निर्णय नहीं कर पाते कि दो भिन्न-भिन्न कर्तव्यों मे से किसका पालन करना अधिक श्रेयस्कर होगा। हम इस पर जितना ही सोचते हैं, इसकी गंभीरता बढ़ती जाती है और किसी दलदल में फँसे व्यक्ति की भाँति इसमें उलझते चले जाते हैं। उस समय हमारे सामने विविध बातें सुहावने रूप धारण करके आने लगती हैं। उनके आकर्षण की खींचातानी में पड़ कर, हम अंत में, अपने को विवश और असहाय पाते हैं तथा हमारे ऊपर मोह-जाल का एक ऐसा घोर अंधकार छा जाता है कि हमें अपने मूल रूप का भी प्रत्यक्ष करना सदा कठिन हो जाता है।

अंतर्द्वंद्व की दशा में हमारे चित्त की भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ आपस में टकराने लगती हैं जिस कारण कभी-कभी प्रतीत होता है कि हम आगे की ओर बढ़ रहे हैं। किंतु दूसरे ही क्षण हमें ऐसा लगता है कि हम किसी पीछे की ओर कार्य करने वाले खिंचाव के द्वारा ही ग्रस्त हैं। समस्या की जटिलता के अनुसार यह द्वंद्व हमारे हृदय के कोने-कोने तक को रौंद डालता है और वह किसी युद्ध स्थल से भी भयानक लगने लगता है। उसमें एक हाहाकार-सा मच जाता है और इस संघर्ष की आग से झुलस कर हमारे कई सुंदर से सुंदर तक आदर्श उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार बम गोलों के आघात से बाहरी लड़ाइयों में कुसुमित उद्यान तथा भव्य अट्टालिकाएँ हमारे सामने विध्वंस हो जाती हैं। जिस समय राजा रामचंद्र रावण वध के अनंतर अयोध्या में राज कर रहे थे, किसी गुप्तचर ने आकर उन्हें उनकी रानी सीता के विषय में प्रचलित प्रवादों की सूचना दी। इस कारण कर्तव्यनिष्ठ एवं धर्म-परायण होने के नाते उन्हें एक ऐसे ही धर्म संकट का सामना करना पड़ गया। उस समय उन्हें एक ओर जहाँ अपने राजधर्म का उच्च आदर्श सीता-परित्याग की ओर उन्मुख कर रहा था वहाँ दूसरी ओर उनका पत्नी-प्रेम उस ओर से मुँह मोड़ने के लिए उभार रहा था। उनकी दशा परम बुद्धिमान एवं धैर्य शील होते हुए भी महाकवि कालिदास के शब्दों में 'दोलाचल चित्त वृत्ति' की-सी हो गयी थी। राजा हरिश्चंद्र को काशी के श्मशान घाट पर तथा वीर अर्जुन को कुरुक्षेत्र के मैदान में भी प्रायः इसी प्रकार की समस्या ने विचलित कर उन्हें हतबुद्धि बना दिया था।

किंतु संतों का भीतरी युद्ध इस प्रकार किन्हीं भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्तव्यों के पारस्परिक घात-प्रतिघातों से उत्पन्न नहीं होता। उनका आधार नैतिक न होकर आध्यात्मिक हुआ करता है और उसे समस्या मूलक न कह कर हम संकल्प मूलक ठहरा सकते हैं। जब कोई साधक अपने आध्यात्मिक जीवन का आरंभ करता है और अपने सद्गुरु के परा-

मर्श द्वारा अनुप्राणित होकर अपनी निकृष्ट चित्तवृत्तियों का दमन करने पर तुल जाता है, उसी समय इस प्रकार के भीतरी युद्ध का श्रीगणेश हुआ करता है। पूर्व सस्कारो के प्रभ व मे निरंतर कार्य करने वाली इंद्रियाँ अपनी-अपनी शक्तियो के उपयोग में कभी चूकना नही जानतीं। उन्हें रोकने की लाख चेष्टा करने पर भी अनेक साधक प्रायः सफल नहीं हो पाते। उनकी वेगवती धारा, बहुमुखी जल प्रवाह की भाँति कोई न कोई मार्ग ढूँढ निकालने के लिए मचल पड़ती है। यत्किंचित् अवसर के भी मिलने ही इनके संपूर्ण मानसिक क्षेत्र को एक बार फिर आप्लावित कर देती है। फलतः उनके आध्यात्मिक विचारों के कोमल पौधे उसके सामने झुकने लग जाते हैं। उन्हें फिर से बल प्रदान करने के लिए साधक को बार-बार सत्संग की शरण मे जाने को बाध्य होना पड़ता है। समस्या मूलक अंतर्द्वंद्व में किन्हीं दो कर्तव्यों की पारस्परिक मुठभेड़ का प्रश्न रहा करता है। वहाँ केवल उनके उचित मूल्याकन की कठिनाई पड़ती है जो उन दोनो में से किसी को भी अधिक श्रेयस्कर मान कर उसे चुन लेने पर आप से आप दूर हो सकती है। किंतु सकल्प मूलक भीतरी युद्ध की कठिनाई उससे नितांत भिन्न प्रकार की होती है जो दृढ़ संकल्प वीर साधक के सदा सजग बने रहने पर भी कभी पूर्णतः दूर नहीं हो पाती। उसे ऐसे विकट शत्रुओं से लोहा लेना पड़ता है जो उस पर चतुर्दिक से प्रहार करते रहते हैं और जो पराजय स्वीकार करने का नाम तक नहीं लेते।

इस युद्ध का रूप इतना विकराल होता है कि इसके सामने किसी बाहरी समर में विजय प्राप्त करना एक साधारण-सी बात मानी जायेगी। यह किसी अवधि की अपेक्षा करके आजीवन चला करता है। इस सघर्ष में अतर्मुखी वृत्तियों की जटिलता विशेष कष्टप्रद सिद्ध होती है। इसमें मरना भी एक ही बार का न होकर बार-बार हुआ करता है। इसमें नष्ट होने वाली सपत्ति भी स्थूल न होकर अत्यंत सूक्ष्म भावों की बनी रहती है। इसी कारण कहीं अधिक ममता से सनी रहा करती है और

उसके विनाश द्वारा उत्पन्न वेदना भी अत्यंत मार्मिक होती है। वास्तव में संत कवियों के विचार से शूरवीर की परिभाषा ही कुछ और है। उसकी विशेषताओं से परिचित हो लेना अत्यत आवश्यक है। सत चरनदास कहते हैं,

सोई जन सूर जो खेत में भिड़ि रहै,
भक्ति मैदान में रहे ठाढ़ा।
सकल लज्जा तजै महा निरभय गजै,
पैज नीसान जिन आय गाड़ा[1] ॥१॥

अर्थात् शूरवीर उसे कहते हैं जो संग्राम में जा भिड़ता है और भक्ति के मैदान में डटा रह जाता है; वह सारी लोक लज्जा को तिलांजलि दे देता है; निर्भयता के माथ लगा रहता है और अपनी टेक या दृढ़ संकल्प का झंडा जा गाड़ता है। इस बात को संत पलटू साहब ने और भी अधिक स्पष्ट किया है। वे कहते हैं,

होय रजपूत सो चढ़े मैदान पर, खेत पर पाँच पच्चीस मारै।
काम और क्रोध दुई दुष्ट ये बड़े हैं, ज्ञान के धनुष से इन्हें टारै॥
कूद परि जाइ कै कोट काया मँहै, आगि लगाय कै मोह जारै।
दास पलटू कहै सोई रजपूत है, लेहि मन जीति तब आयु हारै[2] ॥२१॥

अर्थात् जो सच्चा राजपूत या शूरवीर होता है, वह मैदान में इंद्रियादि को पछाड़ता है और काम क्रोधादि को ज्ञान के धनुष द्वारा दूर फेंक देता है। वह अपनी काया के दुर्गम कोट में कूद पड़ता है, मोह को जला देता है और मन पर विजय प्राप्त करके अपने आपको हार भी जाता है। कबीर साहब ने भी अपनी साखी में इस बात की ओर संकेत किया है,

कबीर सोई सूरिवां मन सूं माँडै झूझ।

---

[1] चरनदास की बानी, पहिला भाग, पृ० ६२

[2] पलटू साहब की बानी, दूसरा भाग, पृ० १४

पंच पयादा पाडिले दूरि करै सब दूज[1] ॥३॥

अर्थात् शूरवीर वह है जो मन के साथ संग्राम छेड़ता है, पंचेंद्रियों को पछाड़ देता है और आपे को खोकर अद्वैत भाव प्राप्त कर लेता है। इसके सिवाय इसी बात को अन्यत्र इस प्रकार भी कहा गया है,

तीर तुपक से जो लड़ै सोतो सूर न होय।
माया तजि भक्ती करै, सूर कहावै सोय ॥[2]

अर्थात् अस्त्रशास्त्रादि वाह्य साधनों से सुसज्जित होकर लड़ने वाले को वास्तविक सूर नहीं कहा जा सकता। सच्चा शूरवीर वही कहला सकता है जो माया से अप्रभावित रहकर भक्ति में निरत रहे।

संत कवियों ने इस प्रकार के शूरवीर का परिचय कतिपय अन्य लक्षणों के द्वारा देने की भी चेष्टा की है। ये लक्षण साधारणतः सभी प्रकार के युद्ध वीरों में पाये जा सकते हैं। किन्तु संतो के आदर्श वीरों मे ये विशेष रूप से उपयुक्त ठहरते हैं। सबसे विलक्षण बात जो इन शूर वीरों में दीख पड़ती है, वह यह है कि वे केवल सामने पड़े हुए शत्रु से युद्ध नहीं किया करते प्रत्युत चारों ओर से आक्रमण करने वालों से एक साथ लड़ा करते हैं।

सूरा झूझै गिरद सूँ, इक दिसि सूर न होइ
कबीर यौं बिन सूरिवाँ, भलान कहि सी कोइ[3] ॥४॥

अर्थात् ऐसे शूरवीर को अपने ऊपर एक साथ प्रहार करने वाली सभी इन्द्रियों से लड़ना पड़ता है जो इसे चारों ओर से आ घेरती हैं। यह उन सभी की चाटों को सभालता है और उनका उत्तर देता है तभी सच्चा वीर कहलाने योग्य होता है। इस वीर का एक दूसरा लक्षण यह है कि ऐसे युद्ध मे एक बार लग जाने पर यह फिर मैदान से पीछे पैर हटाने का नाम नहीं लेता और प्राणों को हथेली पर लेकर वहीं जूझ मरता है।

---

[1]कबीर ग्रंथावली, पृ० ६८

[2]साखी संग्रह, पृ० २७ [3]कबीर ग्रंथावली, पृ० ६८

खेत न छाड़ै सूरिवाँ झूझै है दल माहिं ।
आसा जीवन मरण की मन में आँणें नाहि[१] ॥६॥

और इसी प्रकार इस वीर का एक तीसरा लक्षण यह भी है कि कभी यह डींग नहीं हाँकता। इसके रण-कौशल का पता आपसे आप चल जाता है। जब इसकी वीरता इसके दमकते हुए चेहरे से प्रकाश के रूप में झलकने लगती है। इसे कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। रण-क्षेत्र में प्रवेश कर केवल बढ़-बढ़ कर बातें करना किसी कायर का काम है। एक सच्चे वीर को यह शोभा नहीं देता।

कायर बहुत पमावहीं वह किन बोलै सूर ।
काम पड्या ही जानिए, किसके मुख परि नूर[२] ॥१४॥

संत चरनदास ऐसे शूरवीर का लक्षण बताते हुए उनमें प्रमुख स्थान इसकी दृढ़ टेक वा दृढ़ संकल्प को दिया है और तब अन्य बातों की चर्चा की है; जैसे,

साधू पै जग है सोइ सूरा ।
काके मुख पर नूर है जब बाजै मारु तूरा ॥१॥
या बाने का नेम यही है पग धरि फिरि न उठावै ।
जो कुछ होय सो आगेहि आगे आगे ही को धावै ॥२॥
रन में पैठि झड़ा झड़ि खेलै सम्मुख सस्तर खावै ।
खेत न छाड़ै वहीं जूझे तब ही सोभा पावै[३] ॥४॥ इत्यादि

अतएव संत काव्य की वीर रस वाली रचनाओं में विशुद्ध युद्ध वीर के उदाहरण मिल सकते हैं। इनमे आश्रय स्वयं उनका कवि अथवा कोई साधन होगा। आलंबन का स्थान उसकी इंद्रियाँ अथवा उसके मनोविकार ग्रहण करेंगे तथा उद्दीपन का काम यहाँ अनाहत शब्द, सत्संग अथवा वे उपदेश देंगे जिन्हें उसके सद्गुरु उसे समय पर सचेत और सावधान

---

[१]कबीर ग्रंथावली, पृ० ६६ [२]वही, पृ० ६६
[३]चरन दास जी की बानी, १ भा०, पृ० ८७६

बने रहने के लिए देते रहते हैं। इसी प्रकार अनुभवों के रूप में संत कवि या साधक की वे चेष्टाएँ दीख पड़ेंगी, जिन्हें वह आत्मसंयम के प्रयत्न में प्रकट किया करता है। ये स्वभावतः स्वेद, रोमांच, वैवर्ण्य, अथवा अंग स्फुरण आदि के रूपों में न होकर, अधिकतर मानसिक ही हुआ करती हैं। इन रचनाओं में हमें कभी-कभी कतिपय संचारी भावों के भी दर्शन होंगे जो प्रायः धृति, मति, तर्क, स्मृति, संतोष, हर्ष, तत्परता आदि के द्वारा काम करते हैं। इनमें ओजगुण, परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति के भी पर्याप्त उदाहरण मिल सकते जिनसे स्पष्ट होता है कि इनका वीररस के साथ संबंध है। किंतु संत कवियों की ऐसी पंक्तियों में उपलब्ध उपर्युक्त लक्षणों को हम सर्वत्र शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से पूर्ण मान्यता नहीं दे सकते और न उसकी रूढ़िगत शास्त्रीय पद्धति की कसौटी पर उन्हें भली भांति परख ही सकते हैं। संत कवियों की रचनाएँ उनकी निजी अनुभूति पर आश्रित रहती हैं और वे बहुधा उस अवसर पर निर्मित की गयी कही जा सकती हैं, वे उक्त भावों द्वारा वस्तुतः अभिभूत थे। फलतः ऐसी पंक्तियाँ उनके मुख से आप से आप निकली हुई भी हो सकती हैं। इनमें निपुण कवियों के काव्य-कौशल का चमत्कार भले ही न मिल सके, सच्चे हृदय के अल्हड़पन का सौंदर्य अवश्य पाया जा सकता है। वास्तव में इनकी एक अपनी प्राचीन परंपरा है।

संत काव्य की वीर रस संबंधी रचनाओं में आलंबन कोई शरीर-धारी व्यक्ति नहीं हुआ करता और न उनमें प्रदर्शित श्रृंगार संबंधी चेष्टाएँ ही ऐसी होती हैं जिनका वर्णन वास्तविक युद्ध व्यापारों की भाँति किया जा सकता है। युद्ध वीर जिसे इस विचित्र संग्राम में भाग लेना पड़ता है, वह उन साधनों से संपन्न भी नहीं हुआ करता जिनकी साधारण रणभूमि के बीच आवश्यकता पड़ा करती है। वास्तव में इस युद्ध की जितनी भी बातें होती हैं वे केवल साधारण युद्ध की अनुधर्मता (Analogy) पर ही बतायी जाती हैं।

अतएव संत कवियों ने इसके लिए अधिकतर रूपकों का सहारा

लिया है और आलंकारिक शैली में उनका वर्णन भी किया है। जैसे,

गगन दमामा बाजिया, पड़्या निसानैं घाव।
खेत बुहार्‌या सूरिवैं, मुझ मरणे का चाव[1] ॥६॥

अर्थात् घट के भीतर शून्य स्तर पर अनाहत नाद सुन पड़ा जैसे किसी युद्ध के नगाड़े का शब्द हो और अजपा जाप का क्रम इस प्रकार चलने लगा जैसे उसी अवसर पर बजने वाले धौंसे के ऊपर चोटें पड़ रही हैं। उत्साही साधक के लिए ये उत्तेजित करने को पर्याप्त हैं। वह इंद्रियादि के साथ युद्ध लड़ने के लिए सन्नद्ध होकर इस भाव के साथ सामने आ गया कि उसको जूझने के लिए अब इससे बढ़ कर अवसर नहीं मिलेगा। यहाँ पर वीर रस के आश्रय साधक वा शूरवीर के लिए अनाहत का नाद उद्दीपन का काम करता है और उसका आ डटना अनुभाव है।

इस प्रकार साधक वीर सन्नद्ध होकर रणक्षेत्र में आ डटने वाले अपने शत्रु मन के दलवाले क्रोधादि को मार कर तथा स्वयं, उसे भी पकड़ कर ज्ञान द्वारा बाँध देने तथा क्षमा की ढाल के सहारे कायागढ़ पर पूरीविजय प्राप्त करने का वर्णन संत पलटू साहब ने भी किया है। वे कहते हैं,

खैंचि समसेर तब पैठु रन में रमैं करै ना देर सोइ साध बंका।
कामदल जारि कै क्रोध को मारिकै, रहै निरसंक ना करै संका ॥
पकरि मन राव को ज्ञान से जकरि के छिमा दे ढाल गढ़ तेल लंका।
दास पलटू करै सुन्न में बास तब गैब घर बैठि के देत डंका[2] ॥३२॥

संत कबीर साहब ने भी अपने एक पद में कायागढ़ पर पूर्ण विजय प्राप्त करने का रूपक इस प्रकार बाँधा है।

प्रेम पलीता सुरति हवाई गोला गिआनु चलाइआ।
ब्रह्म अगनि सहजे परजाली एकहि चोट सिझाइआ ॥४॥

---

[1] कबीर ग्रंथावली, पृ० ६८

[2] पलटू साहब की बानी, भाग २, पृ० १४-९

सतु संतोखु लै लरने लागा, तोरे दुइ दरवाजा।
साधु संगति अरु गुरु की कृपाते पकरि ओ गढ़ को राजा ॥५॥
भगवत भीरि सकति सिमरन की कटी काल कै फाँसी।
दास कबीरु चढ़ि ओ गढ़ि ऊपरि राजु लिओ अबिनासी[1] ॥६॥

अर्थात् मैंने प्रेम को पलीता बना कर सुरति की हवाई तोप से ज्ञान का गोला चलाया और ब्रह्म ज्ञान की अग्नि को 'सहज' द्वारा जला कर एक ही आक्रमण में उस दुर्ग को उससे गला दिया। सत्य एवं संतोष को साधन बना कर मैं तब लड़ने लगा। मैंने पाप तथा पुण्य के दोनों दरवाजों को तोड़ डाला और सत्संग एवं सद्गुरु की कृपा के सहारे गढ़ के राजा मन को पकड़ लिया। भगवान के भय तथा नामस्मरण की शक्ति से मृत्यु की फाँसी से मुक्त हो गया और गढ़ के ऊपर अधिकार प्राप्त कर अमरत्व का राज ले लिया।

उपर्युक्त दोनों पदों में इंद्रियों के अगुआ मन को वश में करने तथा इस प्रकार कायागढ़ पर शासन करने और अमर बन जाने का रूपक है। संत पलटू साहब ने इसे साधन से संपन्न होकर रणक्षेत्र में कूद पड़ने से आरंभ किया है। फिर काम एवं क्रोध की सेना को नष्ट करके मन राजा को बंदी बनाने आदि, अंत में, काया दुर्ग पर अधिकार जमा लेने का वर्णन किया है। किंतु संत कबीर साहब ने इसे और विस्तार दिया है। वे प्रेम की रंजक द्वारा सुरति को जाग्रत कर तब उसके माध्यम से ज्ञान का गोला फेंकते हैं। फिर सहज साधना से ब्रह्माग्नि को प्रज्वलित कर सारी काया को बिना किसी विलंब के ही उससे व्याप्त बना देते हैं। ऐसी दशा में उनके लिए कार्य सरल हो जाता है। वे केवल सत्य एवं संतोष के बल पर लड़ते हुए पाप एवं पुण्य की कृत्रिम मर्यादा को अनावश्यक बना देते हैं। साधुओं के सत्संग एवं सद्गुरु कृपा की प्रेरणा से उन्हें मन जैसे बली राजा को भी विवश करते देर नहीं लगती। फिर तो उन्हे

---

[1] आदि ग्रंथ, पृ० ११६२-२ राग भैरउ

आगे कुछ करने को नहीं रह जाता और वे अपनी काया की साधना समाप्त कर अमर बन जाते हैं। संत पलटू साहब के शून्यवास की सिद्धि भी यही है।

संत कवियों की ऐसी वीर रस वाली रचनाओं की एक विशेषता यह जान पड़ती है कि इनमें सत्य, शील, क्षमा, प्रेम, ज्ञान आदि उन बातों की भी चर्चा की गयी मिलती है। इनके वर्णन की आवश्यकता शांत एवं शृंगार रसों मे पड़ा करती है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इन दोनों ही रसों को वीर रस का विरोधी बताया है, जिस कारण यह इन कविताओं का दोष भी कहा जा सकता है। परन्तु संतों की निराली दृष्टि के अनुसार, उनके युद्ध वीरों का पूर्ण शांत एवं एकांतनिष्ठ प्रेमी भी होना नितांत आवश्यक है। वे एक ऐसी विचित्र स्थिति की ओर लक्ष्य करते हैं कि जिसे उपलब्ध करने वाले के सामने विरोधी वा सहायक रसों का प्रश्न से निरर्थक है। संतों की कविताओं मे हमे उस विरह वीर के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं जिसकी ओर श्री वियोगीहरि ने भी संकेत किया है। संत कबीर साहब ने बार-बार बताया है कि प्रेम के लिए अपना 'सिर सौंपना' कोई बड़ी बात नहीं और 'भगति' को भी उन्होने 'दुहेली' ही ठहराया है तथा "साध सती अरु सूर का, अणी उपिला खेल[1]" कह कर इन तीनों के कार्यों को एक समान कठिन सिद्ध किया है। फिर भी,

साधका खेल तो विकट बेड़ा आती, सती औ सूर की चाल आगे।
सूर घमसान है पलक दो चार का, सती घमसान पल एक लागे॥
साध संग्राम है रैन दिन जूझना, देह पर्जन्त का काम भाई।
कहै कबीर टूक बाग ढीली करै, उलटि मन गगन से जमी आई[2]॥४६॥

अर्थात् शूरवीर एवं सती की अपेक्षा साधक का खेल कहीं अधिक भयंकर है। सती और शूर वीर को जहाँ किसी निश्चित अवधि तक ही

---

[1] कबीर ग्रंथावली, पृ० १००

[2] कबीर साहब की ज्ञान गुदड़ी और रेखते, पृ० २०

संग्राम करना और वार झेलना पड़ता है वहाँ साधक को अपने जीवन पर्यंत जूझना पड़ता है। इसके सिवाय इसमें एक खतरा और होता है कि जहाँ अपने प्रयत्नों में थोड़ा-सा भी ढीलापन आया कि फिर साधक का कहीं ठिकाना ही नहीं लगता। संत काव्य मे वीर रस की रचनाएँ अधिक संख्या मे नहीं मिलतीं। किंतु जो मिलती हैं, उनका मूल्यांकन करते समय, यदि उपर्युक्त सभी बातों पर विचार न किया जाय, तो उनके प्रति भ्रमवश अन्याय हो जाने की आशंका रहती है।

संतों का निर्वैर धर्म

योरप द्वारा प्रचलित किये गये विकासवाद के सिद्धांतों से हमें पता चलता है कि सृष्टि के क्रमिक विकास का रहस्य उसके विविध अंगों के पारस्परिक संघर्ष में ही निहित है और एक के क्रमोत्कर्ष से दूसरे का अपकर्ष होना अनिवार्य-सा है। इस विचारधारा के अनुसार एक प्राणि-वर्ग दूसरे को अपनी क्रमोन्नति की सीढ़ी बना कर ही आगे बढ़ता है और एक के जीवन में वृद्धि तभी संभव है जब दूसरे का विनाश हो। हम बराबर देखते आते हैं कि वनस्पति वर्ग के प्राणी अधिकतर खनिज पदार्थों पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं, पशु-वर्ग का प्रधान खाद्य वनस्पतियाँ बन जाती हैं, जलचर तथा वनचर प्राणियो का जीवन बहुधा कीटों, पतगों पर आश्रित रहा करता है और सृष्टि का सबसे विकसित अग मानव वर्ग अपने जीवन एवं उत्कर्ष के लिए उक्त सभी प्राणियों वा पदार्थों को अपना साधन बना लिया करता है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' सृष्टि का एक अटल तथा व्यापक नियम है जिसकी उपेक्षा किसी प्रकार भी नहीं की जा सकती। अतएव हमें चाहिए कि मानव वर्ग से भी आगे आने वाले अतिमानव (Superman) के स्वागतार्थ अपनी भौतिक शक्ति के संचय का प्रयास उत्तरोत्तर करते चलें और शक्ति उपलब्ध करने के अपने संकल्प (Will to power) को अपने लिए मूल मंत्र मान कर ही किसी प्रश्न पर विचार करें।

योरप एवं अमेरिका जैसे देशों ने उक्त प्रकार की भावनाओ द्वारा प्रभावित होकर अनेक यत्रों के आविष्कार किये और वाणिज्य अथवा व्यवसाय की उन्नति के पथ पर अग्रसर होते हुए उन्होंने राजनैतिक संघर्ष को प्रश्रय दिया। उनकी ऐसी भौतिक उन्नति की आभा से आकृष्ट होकर अन्य देशों ने भी उनका अनुसरण किया। परिणाम स्वरूप एक ऐसी संस्कृति का

क्रमशः निर्माण होने लगा जिस कारण अनेक युद्धों वा महायुद्धों तक की आवश्यकता पड़ती गई और धीरे-धीरे सारा विश्व ही नैतिक पतन की ओर उन्मुख होता गया। विकासवाद के उक्त सिद्धांतों के भीतर विश्व की एकता का भाव निरंतर वर्तमान रहा और उनके आदर्शों पर चलने वालों में, क्रमिक विकास के उत्साह वर्धक नियमों के प्रति आस्था भी बनी रही। फिर भी उन्होने उक्त एकता के अंतर्गत लक्षित होनेवाली अनेकता की ही ओर अधिक ध्यान दिया और भिन्न भिन्न वर्गों को एक स्तर से दूसरे तक पहुँचाने वाले उनके आभ्यंतरिक गुणों को कुछ भी महत्त्व न देकर उसका सारा श्रेय केवल उस पारस्परिक होड़ को ही दे डाला। जिन बातों के कारण हमें एक वर्ग को दूसरे से विकसित मानना पड़ता है उनकी उन्होंने उपेक्षा कर दी और केवल बाहरी व्यापार मात्र को प्रधान कारण मान लिया। यह एक साधारण अनुभव की बात है कि खनिज पदार्थों से वनस्पति वर्ग कई बातो में बढ़ कर है। इसी प्रकार क्रमशः वनस्पति से जलचर, नभचर एव पशुवर्ग तथा मानव भी एक दूसरे से, कुछ ऐसे गुणों के कारण, श्रेष्ठतर सिद्ध होते हैं जो कोई संघर्ष के ही परिणाम नहीं कहे जा सकते। उदाहरण के लिए साहचर्य, आत्मीयता एवं पारस्परिक सहायता की प्रवृत्ति जो अनेक पशु पक्षियों तथा कभी-कभी क्षुद्र जंतुओ तक में लक्षित होती हैं वह केवल संघर्षजन्य ही नहीं कहला सकती और न इसी प्रकार मानव वर्ग के प्रेम, दया, दाक्षिण्य, सौहार्द तथा संतोष जैसे गुणो का संघर्ष की स्थिति में कभी प्रदर्शन भी किया जा सकता है। सघर्ष की दशा में काम करने वाली तो वे ही प्रवृत्तियाँ समझी जा सकती हैं जिनका सबध लोभ, मोह, क्रोध, ईर्ष्या, अहंकार आदि के भावों से रहता है और जो इसी कारण, उन गुणों की भाँति रागजनित न होकर द्वेष वा अलगाव के कारण उत्पन्न हुआ करती हैं।

विकासवाद के सिद्धांत बड़ी खोज एवं गवेषणा के अनंतर स्थिर किये गये थे और उन्हें विविध उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया था। उनकी आधारभूत विचारधारा को विज्ञान, इतिहास, ज्योतिष, आदि की कसो-

टियों पर जाँच भी लिया गया था। फिर भी उक्त वाद के प्रमुख आचार्य स्वय डार्विन साहब को भी यह स्वीकार करना पड़ा था कि दया, दानादि नैतिक गुणों के अस्तित्व का पूरा समाधान उनके द्वारा निर्दिष्ट जीवन-संग्राम के सिद्धांतों के सहारे नहीं किया जा सकता। स्पेंसर ने भी आगे चल कर यही बतलाया कि इस प्रकार के नैतिक गुणों के उदय तथा विकास की कहानी रहस्यमय है और वह केवल प्रकृति को ही पूर्णतः विदित होगी। इसके सिवाय एक अन्य विकासवादी हक्सले साहब ने इसके स्पष्टीकरण में यहाँ तक सिद्ध करना चाहा कि मानव समाज के भीतर प्रचलित प्रायः सभी नैतिक नियम प्राकृतिक नियमों के सर्वथा प्रतिकूल पड़ते हैं और इनकी ओर से सदा सतर्क रहना चाहिए। फिर भी नित्शे जैसे कुछ विचारक अपनी ठेठ विकासवाद की धारणाओं पर ही अड़े रह गये। इन्होंने ही उधर के लोगों को सबसे अधिक प्रभावित कर उन बार्बरिक कृत्यों के लिए क्षेत्र तैयार कर दिया जिनकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। प्रिंस क्रोपाट्किन ने जीवन सग्राम की कटुता के स्थान पर अपने पारस्परिक साहाय्य (Mutual aid) संबंधी नियमों का सद्भाव अवश्य रखना चाहा और उसे अनेकानेक उदाहरणों द्वारा सिद्ध भी किया। किंतु इस ओर समुचित ध्यान नहीं दिया गया।

जीवन-संग्राम को इतना अधिक महत्व देने और इसे मानव विकास को अग्रसर करने वाली शक्ति तक का पद प्रदान करने वालो का कहना है कि इसकी प्रवृत्ति हमें अपने समाज के आदिकाल से ही लक्षित होती है। जीवन-संघर्ष ने न केवल हमसे अपने से दुर्बलों तथा निर्बलों पर विजय करा कर हमारे लिए विकास का क्षेत्र निर्माण किया है, प्रत्युत इसी के द्वारा प्रेरित होकर हमने अपने लिए नवीन प्रदेशों की खोज की है। नये-नये आविष्कार किये हैं तथा ऐसे-ऐसे साधनों की रचना कर डाली है जो हमारी नित्यशः बढ़ती जाने वाली जनसंख्या की स्थिति में भी हमें किसी अभाव का अनुभव नहीं करने देते। जीवन-संग्राम के लिए प्रयत्न करते-करते ही हमने अपने लिए सुंदर एवं विशाल निवास स्थान बना लिए हैं।

भिन्न-भिन्न प्रकार के सुस्वादु भोज्य पदार्थों को तैयार करना जान लिया है। देश काल के विस्तार को सकुचित कर अपना कार्य यथाशीघ्र संपन्न करने का प्रबंध कर लिया है। अपने उपार्जित वैभव के साथ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने की व्यवस्था भी कर डाली है। जीवन-सग्राम ने पहले हमें अपनी रक्षा तथा विस्तार के लिए प्रेरित किया था और वही आज हमें अपने सुख के साधन जुटाने तथा उनकी सहायता से अपनी सभ्यता निर्माण करने में भी सहायक हो रहा है। अतएव जीवन-संग्राम की प्रवृत्ति न केवल हमे उत्तेजित करती है, बल्कि हमें सुख की ओर भी ले जाती है।

परंतु जीवन-संग्राम हमे जिस सुख की ओर ले जाता है वह क्या कभी दुःखो से अमिश्रित रहा करता है? क्या छीना-झपटी द्वारा प्राप्त की गई वस्तु के फिर उसी प्रकार हाथ से चले भी जाने की आशंका नही बनी रहती? फिर, क्या आत्मरक्षा एव आत्मप्रसार जिनके लिए हम जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होते हैं केवल घोर सघर्ष के बल पर ही साध्य है? क्या आत्म-रक्षा कोरी पाशवी शक्ति पर ही निर्भर है, उसके लिए विविध प्रकार की परिस्थितियाँ भी नहीं अपेक्षित हुआ करती? आत्म-प्रसार के मूल में तो एक प्रकार के उत्सर्ग की ही भावना काम करती है जो हमें अपने को एक से अधिक देखने के लिए उदार बन जाने को विवश कर देती है। यह सच है कि मानव समाज के अविकसित रूप में हमें इस प्रकार की बातें स्पष्ट नहीं दीख पड़तीं और आत्मरक्षा एवं आत्म-प्रसार के निमित्त किए गये बाह्य प्रयत्नो की ओर ही हमारा ध्यान आकृष्ट हो जाता है। किन्तु इनके अस्तित्व को न मानने का कोई भी कारण नहीं। ये बातें प्रकृति के अतर्गत बीज रूप में सदा से विद्यमान रहती आई हैं और इनका विकास भी हुआ करता है। आत्म-रक्षा की भावना ने एक को दूसरे के साथ संमिलित होकर रहने की ओर आप से आप प्रवृत्त किया होगा। आत्मप्रसार की प्रवृत्ति ने भी, उसी प्रकार एक को अधिकाधिक 'अपना' उत्पन्न करने के कार्य में लगाया होगा। ज्यो-ज्यो मानव-

समाज का विकास होता गया त्यों-त्यों इस प्रकार की बातें और भी शक्ति ग्रहण करती गयीं। उन्हें सहयोग प्रदान करने वाली अन्य समान नैतिक भावनाएँ भी साथ ही साथ विकसित होती गयीं और इन सबने मिल कर हमें आज तक नष्ट होने से बचाया है।

जीवन मे दीख पड़ने वाले उस संघर्ष का वास्तविक अभिप्राय भी क्या है जिस कारण जीवन-सग्राम की कल्पना की जाती है? सघर्ष की क्रिया एक से अधिक वस्तुओ में हुआ करती है जब उन सबके मार्ग कुछ न कुछ भिन्न होते हैं और एक के दूसरे के साथ टकरा जाने तथा उनमें से किसी न किसी पर इस बात का आघात पहुँचने की संभावना होती है। समाज के अंतर्गत ऐसी स्थिति इस कारण संभव होती है कि किसी एक व्यक्ति वा व्यक्ति समूह का हित दूसरे के ठीक समान नहीं हुआ करता। एक यदि किसी कार्य का परिणाम अपने लिए हितकर समझता है तो दूसरा उसे ही अपने हित के विरुद्ध मान लेता है। दोनों को अपनी-अपनी भलाई की चिंता रहा करती है; अतएव, एक दूसरे को अपना शत्रु मान कर उसके विरुद्ध आचरण कर बैठता है। अंत में, दोनों की प्रतिद्वंद्विता के कारण एक की हानि और दूसरे का लाभ हो जाता है। इस प्रकार, इस संघर्ष की सारी योजना-क्रिया में दो बातें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ती हैं और इन्हीं दो के कारण, साधारण संघर्ष का अवसर भी संग्राम पैदा कर देता है। एक तो यह कि सभी व्यक्तियों वा व्यक्ति-समूहों का हित एक समान नहीं हुआ करता और दूसरा यह कि, इसी कारण, किसी भी कार्य तथा घटना का परिणाम उनमें से किसी एक के प्रतिकूल जाता हुआ समझ पड़ता है। इन दो मे से भी केवल प्रथम ही अधिक विचारणीय है, क्योंकि उसीमें पूर्ण विश्वास रखने के कारण कोई दूसरे की ओर भी ध्यान देता है।

क्या एक का हित दूसरे के हित से, वास्तव में यहाँ तक भिन्न है कि दोनों की साधना एक साथ संभव नहीं हो सकती? यह प्रश्न हमारे मन मे दुर्भाग्यवश बहुत कम उठा करता है। इसके उठ जाने पर भी

कभी गभीरता पूर्वक विचार नहीं होता, यदि कुछ गंभीरता के साथ सोचा जाय और किसी एक के भी हित के स्वरूप पर समुचित ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट दीखने लगेगा कि उसके शुद्ध एवं सादे शरीर पर अनेक प्रकार के आवरण बढ़े हुए हैं और उसका आकार-प्रकार तक विकृत हो गया है। हमारा वास्तविक हित किस बात में है यह बहुधा हम जान भी नहीं पाते और केवल उन्हीं बातों पर विशेष ध्यान देते हैं जो हमें क्षणिक वा तात्कालिक लाभ के रूप में उसके ऊपर-ऊपर से दीख पड़ती हैं। जीवन-संग्राम में निरत रहने की भावना ने हमारे भीतर ईर्ष्या, द्वेष, लोभ आदि की प्रवृत्तियों को जाग्रत कर रखा है जो हमारे तथा हमारे आत्यंतिक हित के बीच एक पर्दा-सा डाल देते हैं और, उसके रंगीन पट के चमत्कारों से आकृष्ट हो जाने के कारण, हम बहुधा भुलावे में पड़ जाते हैं। यदि इस प्रकार के पर्दे हमारी आँखों के सामने से किसी प्रकार हटा दिये जा सकें तो हम सभी के समक्ष प्रायः एक सी ही बातें लक्षित होंगी और हमारे स्वार्थ एवं परमार्थ में एक प्रकार का पूर्ण सामजस्य जान पड़ेगा।

विकासवादी को विश्व की एकता एवं उसकी नियमित प्रगति में अटूट विश्वास है, किंतु जीवन-सग्राम की धारणा उसे उन मानवी वृत्तियों पर ही विचार करने को विवश करती है जो केवल संघर्ष में काम आती हैं। उन पर विचार करता-करता वह उन्हीं के प्रवाह में बह निकलता है और जिन गुणों के विद्यमान रहने के कारण हम उक्त समर में विजय लाभ करते हैं उन पर गभीरता पूर्वक सोचने का वह कभी प्रयत्न तक नहीं करता। वह पाशवी शक्ति, छल, कपट, लोभ, ईर्ष्या, प्रतिहिंसा आदि के कारनामों की बराबर चर्चा करता है, किंतु प्रेम, दया, सहयोग आदि को कोई स्थान तक नहीं देता। फिर भी, यह स्वीकार कर लेना वास्तविकता से दूर नहीं कहा जा सकता कि उक्त दूसरे प्रकार की वृत्तियों की धाक हमारे ऊपर सदा बनी रहती आयी है और उनकी उपयोगिता या महत्त्व को उन लोगों ने भी सिद्ध करने की चेष्टा की है जो उक्त प्रथम प्रकार की वृत्तियों से पूर्णतः प्रभावित समझे जाते रहे हैं और जो, वैसे होने पर भी, अपनी

विजय के इच्छुक हैं। गत महायुद्ध के समय हिटलर, मुसोलिनी एवं तोजो जैसे युद्ध-प्रेमियों ने भी सदा इसी बात की दुहाई दी थी कि हम सत्य एवं शांति के नाम पर लड़ रहे हैं और हमें विश्व-कल्याण का उद्देश्य लेकर ही ऐसे क्रूर कर्मों में प्रवृत्त होना पड़ रहा है। वे समय-समय पर इन बातों की बराबर घोषणा करते रहते थे और अपने प्रतिपक्षियों में ऐसी ही बातें दिखलाते थे जो नीति-विरुद्ध थीं। हम अपने दैनिक जीवन में भी इस बात के अनेक उदाहरण पाते हैं। असत्यवादी सदा सत्य की दुहाई देकर अपने कथन मे विश्वास उत्पन्न कराना चाहता है। एक राष्ट्र दूसरे पर आक्षेप करते समय लोकहित की भावना को सर्व प्रमुख स्थान देता है। छल, कपट एवं धोखे से जितने भी काम किये जाते हैं वे भी किसी के ऐसे विश्वास के कारण ही सफल हुआ करते हैं, जो उसके हृदय में अपने मानव-बंधु की हित कामना से प्रेरित होकर स्वभावतः जाग्रत हो जाया करता है।

क्या हम, वास्तव में, एक दूसरे के सदा अपना प्रतिस्पर्धी ही समझा करते हैं और अपने सभी कार्य सशंकित रह कर करते हैं? यदि ऐसा है तो हम अपने किसी भी कार्य के परिणाम की पूरी आशा नहीं कर सकते और न अपनी किसी संस्था के ही दायित्व में हमारा विश्वास जम सकता है। अच्छे से अच्छे कामों का सफल होना अधिकतर इसी अनुमान पर निर्भर रहता है कि हमारे उद्देश्य से अनेक लोग सहमत होंगे और उसके समर्थन में ऐसे लोग हमें सक्रिय सहयोग तक प्रदान कर सकेंगे। हम लोग सब किसी को अपना शत्रु स्वभावतः मान कर नहीं चला करते और न ऐसी समझ के रहते हुए हम कभी कुछ कर ही सकते हैं। प्रिंस क्रोपाट्किन का कथन है कि, "हमारे पास अपनी आवश्यकता से कहीं अधिक आँसू रहता है और आनंद का अनुभव करने की हमारी शक्ति भी कभी अकेले व्यवहार में नहीं आती। अकेला मनुष्य सदा गिरी दशा में रहा करता है और उसे दूसरे पर अपने विचार तथा भाव प्रकट किये बिना कभी चैन नहीं मिलता। जब हमें कोई विशेष आनद मिलने लगता है तो यह

इच्छा आप से आप होती है कि कोई दूसरा भी मेरी इस दशा से परिचित होता। हमारा अनुभव, हमारा प्रेम, हमारा जीना तथा हमारी लड़ाइयाँ तक केवल इसी पर निर्भर है।......पौधा बिना फूले नहीं रह सकता, यद्यपि कभी-कभी फूलना ही उसकी मृत्यु का कारण भी हो जाया करता है। सब शक्तियों से संपन्न मनुष्य की भी यही दशा है। वह अपने जीवन को विस्तृत करना चाहता है और वह यदि निरतर काम न करता रहे तो जीवित नहीं रह सकता।" प्रिंस क्रोपाट्किन ने साइबीरिया के जंगल, स्विट्जरलैंड के पहाड़ तथा स्वीडन के मैदानों में रहने वाले विभिन्न प्रकार के प्राणियों से लेकर फ्रांस एवं इंगलैंड के शिक्षित तथा सभ्य लोगों को भी भली भाँति देखा भाला था और उनका कहना था कि मेरे अनुभव में 'जीवन-संग्राम' के उत्कृष्ट उदाहरण कहीं भी उपलब्ध नहीं हुए। इसी कारण उन्होंने डार्विन आदि की 'संघर्ष संबंधी धारणाओं को सर्व-मान्य ठहराने में आपत्ति की और 'पारस्परिक साहाय्य' का सिद्धांत निश्चित किया।

भारतवर्ष में उक्त सारे प्रश्नों पर विचार करने का दृष्टिकोण कुछ और ही रहता आया है। यहाँ के मनीषियों ने विश्व की एकता में लक्षित होने वाली अनेकता का प्रधान कारण उस 'मैं-तू' के भेद-भाव को माना है जो स्वार्थ एवं परार्थ के बीच गहरी खाई बना देता है और जो एक को किसी अन्य के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने का भी अवसर ही नहीं देता। इस पृथक्त्व की भावना के कारण हम समझने लगते हैं कि हमारा दूसरों के सुख दुःख से कुछ भी सबंध नहीं। केवल अपने ही स्वार्थ-साधन में हमारी भलाई है। ऐसी स्थिति के रहते हमें किसी अन्य का स्वार्थघात करते समय कुछ भी संकोच नहीं होता। परंतु जिस दिन हमें अपने पहले किये गये स्वार्थ पर कर्मों का लेखा-जोखा लेने का कभी अवसर मिल जाता है और हमें सूझ पड़ता है कि उनसे हमे वस्तुतः कोई स्थायी एवं यथार्थ सुख नहीं मिला है और न उनके त्याग से हमारी वैसी हानि ही हो जाती तो हम अपने उन कृत्यों पर एक बार फिर गंभीरतापूर्वक

विचार करने लगते हैं और कह उठते हैं कि इसके कारण हमने व्यर्थ ही दूसरो का भी स्वार्थघात किया। कुछ और अधिक चिंतन करने पर हमें यह भी प्रतीत होने लगता है कि विश्व की एकता अक्षरशः सत्य है और व्यापक दृष्टि तथा उदार-हृदयता के साथ देखने से हमारे तथा इतर प्राणियों के हितों में कोई भी वास्तविक विरोध नहीं जान पड़ता। इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि प्राणिमात्र के एकत्रीभूत स्वार्थ को ही दूसरे शब्दों में परमार्थ कहा जाता है। इस वृत्ति को ग्रहण कर सुधरी हुई मानसिक स्थिति को ही आत्मौपम्य दृष्टि कहा करते हैं जिनके अनुसार दूसरों के हित का घात करना अपना ही स्वार्थघात समझ पड़ने लगता है।

ऐसी समदृष्टि के आने पर ही धर्म के यथार्थ रूप का आविर्भाव होता है। उसके शाब्दिक अर्थ (ध्रियते अनेन इति धर्मः अर्थात् जो इस विश्व का आधारभूत नियम है वही धर्म है) की सच्ची संगति बैठ जाती है। इस समबुद्धि के साथ विचार करने पर व्यक्तिगत मोक्ष एवं समष्टि-गत कल्याण में कोई भी अंतर नहीं दीख पड़ता। इस समबुद्धि को 'अहिं-सात्मक बुद्धि' का नाम दिया जाता है क्योंकि इसके ही बने रहते अत्या-चारी से भय का अनुभव नहीं होता और न उसके प्रति द्वेष वा प्रतिहिंसा की भावना जागृत होती है, अपितु एक ऐसे वातावरण का उदय हो आता है जिसके प्रभाव में पड़ कर हिंसात्मक वृत्ति भी शिथिल पड़ जाती है। इस समदृष्टि के स्वरूप का वर्णन करते समय किसी संत ने कहा है कि

सम दृष्टी तब जानिए, सीतल समता होय।
सब जीवन की आतमा, लखै एकसी सोय॥

और, उक्त अहिंसा का परिणाम बतलाते हुए, रज्जब जी ने कहा है कि

रज्जब अज्जब काम है, जो दिल न दुखाया जाय।
यहाँ खलक उस पर खुशी, आगे खुशी खुदाय॥

कबीर दादू, मलूक प्रभृति संतों ने इस विषय की चर्चा अनेक बार की है और इसे अपने शब्दों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न भी किया है।

कबीर साहब समस्त प्राणियों की समानता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि

हम तौ एक एक करि जाना,
दोइ कहै तिनको है—दोजख जिन नाहिंन पहिचाना।
एकै पवन एक ही पानी, एक जोति संसारा।
एक ही खाक घड़े सब भाँड़े एक ही सिरजन हारा॥

और इसी कारण मलूकदास ने जीवहिंसा करने वालों के विषय में कहा है कि

कुंजर चींटीं पशु नर, सब में साहब एक।
काटे गला खोदाय का, कहे सूरमा लेख॥

एक ही समान पंच तत्व की रचना होने के कारण सबमें स्वाभाविक समानता है और 'खाक एक सूरति बहुतेरी' होने से इनकी एकता में अनेकता का आभास हो जाता है। दादू के अनुसार इस बात पर विचार करना चाहिए कि वास्तव में,

आपै मारै आपकौ, आप आपकौ खाइ।
आपै अपना काल है, दादू कहि समझाइ॥

कबीर साहब तो उक्त प्रकार से हत्या करने वाले की ही श्रेणी में वृक्षों की पत्तियाँ तोड़ने वालों को भी गिनते जान पड़ते हैं; जैसे,

पाती तोरै मालिनो पाती पाती जीउ।
जिसु पाहन को पाती तोरै सो पाहनु निरजीउ॥
भूली मालिनी है एउ। सति गुरु जागता है देउ॥
ब्रह्म पाती विष्णु डारी फूल संकर देव।
तीन देव प्रतख्य तोरहि करहि किसकी सेव॥

परंतु ये संत अहिंसा सबंधी अपने विचारों को केवल प्रत्यक्ष हिंसा एवं कष्ट तक ही सीमित नहीं रखना चाहते। यद्यपि सुंदरदास ने एक स्थल पर,

मन करि दोष न कीजिए, वचन न लावै कर्म।
घात न करिए देहसों, इहै अहिंसा धर्म॥

कह कर अहिंसा के स्वरूप का परिचय दिया है। फिर भी, अन्य संतों ने इसे अधिकतर 'निर्वैर' कहना ही पसंद किया है। उदाहरण के लिए संतों का लक्षण बतलाते समय कबीर साहब ने बतलाया है कि वह 'निरवैरी', 'निहकाम', 'साईं से नेह रखने वाला' और 'विषियासूं न्यारा' हुआ करता है। यहाँ 'निर्वैर' को ही उन्होंने प्रथम स्थान भी दिया है; जैसे,

निरवैरी निहकामता, सांई सेती नेह।
विषिया सूं न्यारा रहे, संतनि का अंग एह॥

और इसी प्रकार, दादू ने भी बतलाया है कि,

निरवैरी सब जीवसौं, सत जन सोई।
दादू एकै आतमा, वैरी नहिं कोई॥

इसके सिवाय दादू ने तो एक स्थल पर इस निर्वैर धर्म को ही संतमत का सार या सर्वस्व तक मान लिया है; जैसे,

निरवैरी निज आतमा साधन का मत सार।

और इस एक पक्ति से ही उसका महत्व बहुत स्पष्ट हो जाता है।

परंतु यह निर्वैर धर्म अत्यंत कठिन है और इसके नियमों का पालन करना सबके लिए संभव नहीं कहा जा सकता। अत्याचारी को अपने समक्ष खड्गहस्त खड़ा देख कर सर्व साधारण के हृदय में भय वा क्रोध का भाव तत्क्षण जाग्रत हो जाता है। वह क्रमशः आत्मरक्षा वा प्रतिहिंसा के कार्य में प्रवृत्त होकर अपना मानसिक संतुलन खो बैठता है। इसी प्रकार निंदा, अपमान, धमकी आदि की बातें सुन कर भी हम अपना धैर्य खो देते हैं और वक्ता से बदला चुकाने पर उतारू हो जाते हैं। परंतु निर्वैरी साधु ऐसा नहीं करता, वह ऐसे असह्य आक्रमण को भी सहन कर लेता है। कबीर साहब का कहना है कि

खूंदन तौ धरती सहै, बाढ़ सहै बनराइ।
कुबसद तो हरिजन सहै, दूजै सह्या न जाइ॥

इतना ही नहीं। वे ऐसे साधु के प्रति यह भी कहते हैं कि

ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोइ।
अपना तन सीतल करै, औरन को सुख देइ॥

अर्थात् दूसरों की ओर से वाग्वाण बरसते रहने पर भी, सुंदर शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए। कबीर साहब को तो उसने अपने उस ठगे जाने में भी आनंद है, जिसे आज के लोग बहुत बड़ी पराजय समझा करते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि

कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोइ।
आप ठग्यां सुख ऊपजै, और ठग्याँ दुख होइ॥

वास्तव में, ऐसा निर्वैरी एक विचित्र जीव हुआ करता है जिसके विषय में रज्जब जी ने कहा है कि

औगुण ढाकै और के, अपने औगुण नाहिं।
रज्जब अज्जब आतमा, निरवैरी जग माहिं॥

और इसी कारण, इनके अनुसार उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। ये कहते हैं कि

नर निरवैरी होत ही, सब जग वाका दास।
रज्जब दुविधा दूर गई, उर आए इकलास॥

और ऐसी स्थिति के आने पर संघर्ष की संभावना भी नहीं रह पाती।

अतएव, समदृष्टि वा आत्मौपम्य बुद्धि के आने पर हमें केवल सारे विश्व मे एकता ही नहीं दीख पड़ती, अपितु सभी प्राणियों का हित भी अपना ही हित जान पड़ने लगता है। हम दूसरों के स्वार्थ पर आघात करने से स्वभावतः विरत हो जाते हैं। इस दशा तक पहुँच जाने पर हमारे भीतर, अपने प्रति अनिष्ट करने वाले के लिए भी, दुर्भावना जागृत नहीं होती और हम सब कुछ सह भी लेते हैं। इस मनोवृत्ति के ही कारण हम दूसरों के प्रति प्रेम, दया, परोपकार आदि के सद्भाव भी प्रदर्शित किया करते हैं। सबके साथ मिलजुल कर रहने, सबके दुःख में दुःखी होने तथा सुख में प्रसन्नता अनुभव करने का स्वभाव भी इसी के द्वारा

पड़ता है। समत्व की बुद्धि का कुछ न कुछ परिचय हमें मनुष्येतर प्राणियों की उन स्वाभाविक प्रेरणाओं (Natural instincts) में भी मिला करता है जिनके कारण वे अपने बच्चे तथा अपने वर्ग की रक्षा में अनायास प्रवृत्त हो जाया करते हैं। जगली जानवरों का, अपने वर्ग वालों के समूह बना कर ही घूमना-फिरना, अपने में से किसी एक पर भी आघात पहुँचने पर सब किसी का उसके प्रतिकार के लिए उद्यत हो जाना तथा हिंस्र पशुओं तक का अपने बच्चों के प्रति स्नेह भाव रखना मूलतः उसी के कारण होता है। मानव-समाज के भीतर पाये जाने वाले प्रायः सभी नैतिक गुण उसी के आधार पर प्रकट करते हुए दीख पड़ते हैं। समत्व बुद्धि वाले का जीवन-संग्राम बाहर न होकर अपने उन भीतरी षड्रिपुओं अर्थात् काम, क्रोध, लोभ मोहादि के साथ चला करता है जिनकी प्रबलता ही सभी अनर्थों की जड़ है और जिन पर विजय पा लेने पर ही उक्त निर्वैर धर्म वा अहिंसा धर्म का पालन संभव होता है। महात्मा गांधी ने अपने 'सत्य के प्रयोग' इसी उद्देश्य से किये थे और विकासवाद वाले अति मानव (Superman) का सच्चा आदर्श भी, कदाचित् इसी ओर संकेत करता हुआ समझ पड़ता है।

हरिजन और कबीर साहब

कबीर साहब की रचनाओं में 'हरिजन' शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है, किंतु वह वर्तमान अछूतों के लिए स्पष्ट रूप में कहीं भी प्रयुक्त नहीं है। 'कबीर ग्रंथावली' की सर्व प्रथम साखी के अंतर्गत जो 'हरि जी सवॉन को हितू, हरिजन सईं न जाति' कहकर उन्होंने हरिजनों की जाति को सर्वश्रेष्ठ बतलाया है वह भी वर्तमान अछूतों से संबंध नहीं रखता।

कबीर साहब के 'हरिजन' वास्तव में वे लोग हैं जिनके मुख्य गुण उनके नीचे लिखे पद्यों में दी गई परिभाषा के अंतर्गत व्यक्त किये गये हैं; जैसे,

रोड़ा ह्वै रहौ बाट का, तजि पाखँड अभिमान।
ऐसा जे जन ह्वै रहै, ताहि मिले भगवान ॥१४॥
रोड़ा भया तो क्या भया, पंथी को दुख देइ।
हरिजन ऐसा चाहिए, जिसी जिमीं की खेह ॥१८॥
खेह भई तो क्या भया, उड़ि उड़ि लागे अंग।
हरिजन ऐसा चाहिए पांणी जैसा रंग ॥१८॥
पांणी भया तो क्या भया, ताता सीता होइ।
हरिजन ऐसा चाहिए जैसा हरि ही होइ ॥२०॥
हरि भया तो क्या भया जासौं सब कुछ होइ।
हरिजन ऐसा चाहिए हरि भजि निर्मल होइ ॥२१॥[1]

अर्थात् यदि चाहते हो कि तुम्हें ईश्वर की प्राप्ति हो तुम पाखंड और अभिमान भरी मनोवृत्ति का त्याग कर मार्ग में पाये जाने वाले साधारण कंकड़ों के समान विनत बन जाओ। परंतु रोड़े बनने पर भी कदाचित्

---

[1] कबीर ग्रंथावली, पृ० ६५

चलने वालों को बाधा पहुँचे, अतएव हरिजन होने के लिए पृथ्वी की धूल ही बन जाना अधिक उचित होगा। किंतु धूल हो जाने पर भी तो लोगों के शरीर पर लगते रहने की सभावना है, इसलिए उत्तम होगा कि हरिजन की भाँति सरल एवं तरल होने की चेष्टा करें। परंतु पानी हो जाने पर भी बहुधा गर्म या ठंडा होते रहने का अवसर पड़ा करता है, अतएव सच्चे हरिजन को स्वयं भगवान के समान एकरस बना रहना ही अच्छा है। परंतु हरि बन जाने पर भी कुछ को कर्ता-धर्ता होना पड़ेगा, अतएव सबसे उत्तम हरिजन वही होगा जो भगवान का भजन करता हुआ, अपना जीवन सब प्रकार से निर्मल अर्थात् दोष रहित बनावे।

कबीर साहब के हरिजन, इसी कारण वे लोग ठहरते हैं जिन्हें वे दूसरे शब्दों में जीवन-मृतक (जीवन्मुक्त) संत अथवा हंस कहा करते हैं। हरिजन को हंस पक्षी का रूपक देकर एक पद में वे इस प्रकार कहते हैं,

हरिजन हंस दसा लिये डोलै निर्मल नांव चवै जस बोलै।
मान सरोवर तट के बासी रांमचरन चित आंन उदासी॥
मुक्ताहल बिन चंच ना लांवैं मौंनि गहै के हरि गुन गांवैं
कऊवा कुबधि निकट नहिं आवै सो हंसा निज दरसन पावै॥[१]

अर्थात् हरिजन हंसों की भाँति भ्रमण करते हुए उनका ध्यान सदा अपने मूल स्थान पर ही रहता है और राम को छोड़ कर दूसरों के प्रति उदासीन वृत्ति धारण करते हैं, वे मुक्ति के सिवाय अन्य वस्तु की इच्छा नहीं करते और न हरि यश के सिवाय और कुछ कहने को तैयार होते हैं।

अतएव अपने उद्देश्य में सिद्धि केवल उन्हीं हरिजनों को प्राप्त हो सकती है जिनके निकट कुबुद्धि रूपी कौवा आने नहीं पाता। कबीर के हरिजन की विशेषता इसी कारण जीवन की निर्मलता और निरभिमानता

---

[१] कबीर ग्रंथावली, पृ० २०४, पद ३४४

है जिनके कारण उसमें एक अपूर्व सहनशीलता का प्रादुर्भाव होता है और कबीर साहब को कहना पड़ता है,

कुसबद तो हरिजन सहै दूजै सह्या न जाय।[1]

अर्थात् दुष्टों के वाक्‌बाण चोट एक हरिजन ही सह सकता है, यह दूसरे किसी की शक्ति की बात नहीं।

निरभिमानता का सच्चा पोषक होने के ही कारण कबीर साहब ने अपने को 'दासिन का परदास' तक कह डाला है। वे अभिमान अथवा मान को एक बड़े भयंकर शत्रु के रूप में देखते हैं; क्योंकि

माया तजी तौ का भया, मांनि तजी नहीं जाइ।
मानि बड़े मुनियर गिले, मानि सबनि कौं खाइ ॥१७॥[2]

अर्थात् मान अथवा अहंकार ही एक ऐसी वस्तु है जो माया को त्यागने वाले मुनिवरों तक को भी नहीं छोड़ती और उन्हें बलात्कार पटक देती है। कुलाभिमान भी इस मान का ही एक अन्यतम रूप है जिसके प्रभाव में पड़ कर लोग एक ही मानव जाति के अंतर्गत अनेक प्रकार की 'ऊँची नीची श्रेणियाँ' बाँधा करते हैं। वे नहीं समझते कि "ऊँचे कुल क्या जनमियाँ, जै करणी ऊँच न होइ"। उनको केवल यही सूझता है कि वर्णाश्रम धर्म अथवा किसी नियम परंपरा के अनुसार यदि उनका कुल श्रेष्ठ समझा जाता है तो निःसंदेह औरों से उत्तम है।

इसी कारण, समाज में वे अनेक प्रकार के स्वत्वों के अधिकारी बने फिरते हैं, और यदि कोई अनुचित कार्य भी कर डालते है तो इसका उन्हें पूर्व विश्वास रहता है कि समाज उस पर कभी ध्यान नहीं देगा।

परिणाम स्वरूप समाज के भीतर अनेक प्रकार की कुरीतियाँ चल पड़ती हैं और भिन्न-भिन्न अत्याचारों के नित्य प्रति होते रहने के कारण, समाज विशृंखल होकर अंत में नष्टभ्रष्ट हो जाता है। कबीर साहब इसी

---

[1] कबीर ग्रंथावली, पृ० ६३, साखी २ [2] वही, पृ० ३४

लिए कुलाभिमान और वर्णव्यवस्था की घोर निंदा करते हैं। वे भिन्न-भिन्न वर्णों के समझे जाने वाले लोगों को जन्म से ही अभिन्न अर्थात् एक समय समान समझते है। वे इसका वास्तविक कारण बतलाते हुए कहते हैं,

अला एकै नूरे उपजाया, ता की कैसी निंदा
ता नूर थैं सब जग कीया, कौन भला कौन मंदा ॥[1]

अर्थात् जब परमेश्वर ने एक ही ज्योति से सारे ससार का निर्माण किया है तो उसमें किसी को भला और किसी को बुरा कहने का स्थान ही कहाँ रह जाता है; अथवा,

एक बूंद एकै मल मूतर, एक चांम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उतपना, कौन बांम्हन कौन सूदा ॥[2]

अर्थात् जब एक ही प्रकार के साधनों द्वारा मानव शरीर की सृष्टि होती है और सभी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का मूल एक ही ज्योति में निहित समझा जाता है तो ब्राह्मण एवं शूद्र के वर्गीकरण स्वरूप, भिन्नता की दीवारें खड़ी करना निरी मूर्खता के सिवाय और कुछ नहीं। उनका तो यह भी कहना है,

जो पैं करता बरण विचारे, तौ जनमत तीनि डांडि किन सारे ॥[3]

अर्थात् वर्णव्यवस्था का विचार यदि सृष्टिकर्ता के मन में रहा होता तो वह जन्म देते ही ब्राह्मणों के ललाट पर तीन-तीन लकीरें खींच कर पहचान क्यो नहीं बना देता; अथवा,

जे तूं बांभन बभनीं जाया, तो आन बाट ह्वै काहे न आया ॥[4]॥

अर्थात् यदि ब्राह्मणी के उदर से उत्पन्न होने के ही कारण, उच्च बनते हो तो तुम्हें उचित था कि जिस प्रकार अन्य लोगों की उत्पत्ति

---

[1] कबीर ग्रंथावली, पृ० १०४, पद ४१ [2] वही, पृ० १०६, पद ५७
[3] वही, पृ० १०१, पद ४१ [4] वही, पृ० १०२, पद ४१

गोस्वामी तुलसीदास : पुनर्मूल्यांकन

गोस्वामी तुलसीदास को हमने आज तक विभिन्न दृष्टियों से देखने के प्रयत्न किये हैं। भारतीय इतिहास के मध्य युग में उनका आविर्भाव हुआ था और जब धार्मिक क्षेत्र में भक्ति-साधना का अधिक प्रचार था, हमने उन्हें एक भक्त के रूप में पाया था। उस समय उनका हमने स्वागत "कलि कुटिल जीव निस्तार हित वालमीक तुलसी भयो" के भाव से किया था। फिर जब हिंदी-भाषाभाषियों के यहाँ साहित्यिक चर्चा कुछ विशेष विस्तार के साथ होने लगी और कवित्व-शक्ति के महत्व की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा तो, उनके अपने लिए "कवित विवेक एक नहिं मोरे" कह चुकने पर भी, रीतिकालीन कवियों ने उनकी 'कविताई' की भूरि-भूरि प्रशंसा की। वे भक्त होने के साथ ही अपने कवि-रूप में भी बहुत प्रसिद्ध हो चले और उनकी लोकप्रियता का क्षेत्र विस्तृत हो गया। इसी प्रकार, आधुनिक युग के प्रारंभ में जिस समय पाश्चात्य लोगों के साथ हमारा संपर्क बढ़ा और पश्चिमी प्रकाश के आलोक में हमने आत्म-निरीक्षण आरंभ किया तो हमें उस महापुरुष को एक अन्य रूप में भी देखने का अवसर मिला, जो सुधारक का था। इस दृष्टि से उनके महत्व की जाँच-पड़ताल अनेक विदेशी विद्वानों तक ने की और उन्हें न केवल हिंदू धर्म, अपितु भारतीय संस्कृति के उन्नायकों में भी बहुत ऊँचा स्थान दिया। इस प्रकार, जिस दशा में हमने उन्हें देखना चाहा उनके वे सर्वथा उपयुक्त ठहरते आये और उसके समय की कसौटी पर सदा खरे भी उतरते रहे। इसी कारण, उनके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करने में हम कभी उदासीन नहीं हुए और न उनकी लोकप्रियता में कभी कोई कमी आती दीख पड़ी।

गोस्वामी तुलसीदास की कृतियों में उनके भक्त कवि एवं सुधारक वाले रूप सदा से विद्यमान थे। जैसा अवसर आता गया और तदनुसार हमारे

दृष्टिकोण में परिवर्तन होते गये, हमारी दृष्टि उन पर पड़ती गयी और हम उनके विविध रूपो का मूल्यांकन करते चले गये। आज हमारे सामने उनके वे तीनों रूप उपस्थित हैं और हम उनका आदर एक समर्थ कलाकार तथा भारतीय समाज के एक संरक्षक के रूप मे किया करते हैं। हमने उनकी वाणी को अमर बतलाया है और उन्हें विश्व के अग्रगण्य महापुरुषों तक में गिनने में सकोच नहीं किया है। परंतु क्या कभी कोई केवल भक्त, कवि अथवा सुधारक होने मात्र से ही उस समान का अधिकारी हो सकता है जो उन्हें आज तक आप से आप मिलता आया है? क्या उन्हें अमर कृतियों का रचयिता कहने अथवा ससार के श्रेष्ठ महापुरुषों में गिनने का कोई और भी कारण नहीं हो सकता? इसके सिवाय क्या हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि हमारे उक्त कथनों की प्रामाणिकता सदा विश्वसनीय रह जायगी?

आज हम अपने राष्ट्र की जीवन-यात्रा के पथ पर एक महत्त्वपूर्ण स्थल तक आ पहुँचे हैं। हमारे सामने कुछ नवीन समस्याएँ उपस्थित हैं। आज हमें ऐसा लग रहा है कि हमारा भविष्य जो रूप ग्रहण करने जा रहा है वह हमारे पूर्व-परिचित आदर्शों से कुछ विलक्षण भी हो सकता है। आधुनिक युग की भौतिक उन्नति ने जहाँ कई बिछुड़े हुए देशों को अधिक आगे ला दिया है, वहाँ वह उन्नत देशों को सबके साथ पैर मिला कर चलने को भी बाध्य कर रही है और आज सभी को इस बात का भान होने लगा है कि पृथक्-पृथक् आदर्शों को अब हम कदाचित् ठीक उनके पूर्व-रूपों में ही नहीं रख सकते। प्रत्येक बात जो कभी किसी जाति वा समाज विशेष के मानदंडानुसार परख ली जाती थी अब किसी सार्वभौम तुला पर भी चढ़ने जा रही है। हमें इस प्रकार देखने का क्रमशः एक अभ्यास पड़ता जा रहा है और ऐसा प्रतीत होता है कि हमें कभी अपनी निधि के अमूल्य रत्नों को भी एक बार फिर से परखना होगा। हमें अपने चिर परिश्रम द्वारा अर्जित उपयोगी सबल को भी कम कर देना पड़ेगा और आगे के लिए केवल उसी को अपनाना होगा जो

होती है उस प्रकार से जन्म न लेकर किसी विशेष रूप से जन्म धारण करते। सच्ची बात तो यह है,

नहीं को ऊँचा नहीं को नीचा। जाका प्यंड ताही का सींचा॥[1]

अर्थात् वस्तुतः न तो कोई उच्च होता है न तो नीच होता है क्योंकि साधन और साध्य सबके समान ही हुआ करते हैं। अतएव, किसी मनुष्य को निकृष्ट श्रेणी का समझ कर उसे अस्पृश्य मानना और छुआछूत का मनमाना ढोंग रच कर उसके साथ दुर्व्यवहार करना ठीक नहीं।

यदि छुआछूत का आधार पवित्रता का अभाव माना जाय तो वैसी अपवित्रता हमारे जन्म के दिन से ही अनुभव में आया करती है। कबीर साहब कहते हैं,

काहे कौं कीजे पांडे छोति विचारा। छोति ही तै उपजा सब संसारा॥टेक॥
हंमारे कैसें लोहू तुम्हारे कैसें दूध। तुम्ह कैसें बांम्हण पांडे हम कैसे सूद॥
छोति छोति करता तुम्हहीं जाए। तौ ग्रभवास काहैं को आए॥
जनमत छोत मरत छोति। कहै कबीर हरि की निर्मल जोति॥२४॥[2]

अर्थात् हे ब्राह्मण छुआछूत का विचार करने की आवश्यकता ही क्या है, जब हम देखते हैं कि यह भूत की उत्पत्ति के समय से ही पिंड नहीं। जब ब्राह्मणी के स्तन से निकलने के ही कारण दूध, दूध नहीं समझा जाता और न शुद्री का दूध लोहू की भाँति निंद्य समझा जा सकता है तो ब्राह्मण एवं शूद्र की विभिन्नता का आधार क्या होगा? छुआछूत का दोष लगाना था तो गर्भ में आना ठीक नहीं था। छूत सो जन्म-मरण दोनों में लगी रहती है। परंतु उसके कारण परमेश्वर की निर्मल मूल ज्योति में किसी प्रकार का दोष नहीं आ सकता। इस करण, काल्पनिक पवित्रता का नाम लेकर किसी को अस्पृश्य कह देना उचित नहीं। ऐसी पवित्रता यदि जीवन का लक्ष्य हो तब तो

---

[1] कबीर ग्रंथावली, पृ० १०२, पद ४१ [2] वही, पृ० १०१, पाद टिप्पणी

कहु पांडे कैसी सुचि कीजै, सुचि कीजै तो जनम न लीजै ॥[1]

कबीर साहब के छुआछूत विषयक सिद्धांत बहुत ऊँचे आदर्शों को दृष्टि में रखते हुए स्थिर किये गये हैं। मानव जाति के अंतर्गत आनेवाले प्राणियों के कर्तव्य एवं अधिकार, उनके मूलतः एक ही ईश्वरीय ज्योति के प्रतिरूप होने के कारण समान समझे जाने चाहिए। अतएव वर्ण-व्यवस्था अथवा पवित्रता के काल्पनिक आधारों के अनुसार मनुष्य-मनुष्य के बीच विभिन्नता दर्शाने के लिए भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ बाँधना उचित नहीं प्रतीत होता। वास्तव में, वह बड़ा नहीं हो सकता जिसका कुल बड़ा समझ लिया गया है, बल्कि वही उच्च समझा जाने योग्य है जिसके कार्य उच्च एवं महान हैं, और जो विश्वात्मा को अपना ध्येय समझता है। सबको समान समझने पर ही निर्भिमानता आ सकती है और तभी अपना जीवन निर्मल बन सकता है। इस प्रकार देखने पर कबीर साहब का 'हरिजन' मानव जति के लिए आदर्श स्वरूप है।

[1] कबीर ग्रंथावली, पृ० १७३, पाद टिप्पणी, पद ५०

गोस्वामी तुलसीदास : पुनर्मूल्यांकन

गोस्वामी तुलसीदास को हमने आज तक विभिन्न दृष्टियों से देखने के प्रयत्न किये हैं। भारतीय इतिहास के मध्य युग में उनका आविर्भाव हुआ था और जब धार्मिक क्षेत्र मे भक्ति-साधना का अधिक प्रचार था, हमने उन्हें एक भक्त के रूप में पाया था। उस समय उनका हमने स्वागत "कलि कुटिल जीव निस्तार हित वालमीक तुलसी भयो" के भाव से किया था। फिर जब हिंदी-भाषाभाषियों के यहाँ साहित्यिक चर्चा कुछ विशेष विस्तार के साथ होने लगी और कवित्व-शक्ति के महत्व की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा तो, उनके अपने लिए "कवित विवेक एक नहिं मोरे" कह चुकने पर भी, रीतिकालीन कवियों ने उनकी 'कविताई' की भूरि-भूरि प्रशंसा की। वे भक्त होने के साथ ही अपने कवि-रूप में भी बहुत प्रसिद्ध हो चले और उनकी लोकप्रियता का क्षेत्र विस्तृत हो गया। इसी प्रकार, आधुनिक युग के प्रारंभ में जिस समय पाश्चात्य लोगों के साथ हमारा संपर्क बढ़ा और पश्चिमी प्रकाश के आलोक में हमने आत्म-निरीक्षण आरंभ किया तो हमें उस महापुरुष को एक अन्य रूप में भी देखने का अवसर मिला, जो सुधारक का था। इस दृष्टि से उनके महत्व की जाँच-पड़ताल अनेक विदेशी विद्वानों तक ने की और उन्हें न केवल हिंदू धर्म, अपितु भारतीय संस्कृति के उन्नायकों में भी बहुत ऊँचा स्थान दिया। इस प्रकार, जिस दशा में हमने उन्हें देखना चाहा उनके वे सर्वथा उपयुक्त ठहरते आये और उसके समय की कसौटी पर सदा खरे भी उतरते रहे। इसी कारण, उनके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करने में हम कभी उदासीन नहीं हुए और न उनकी लोकप्रियता में कभी कोई कमी आती दीख पड़ी।

गोस्वामी तुलसीदास की कृतियों में उनके भक्त कवि एवं सुधारक वाले रूप सदा से विद्यमान थे। जैसा अवसर आता गया और तदनुसार हमारे

दृष्टिकोण में परिवर्तन होते गये, हमारी दृष्टि उन पर पड़ती गयी और हम उनके विविध रूपों का मूल्यांकन करते चले गये। आज हमारे सामने उनके वे तीनों रूप उपस्थित हैं और हम उनका आदर एक समर्थ कलाकार तथा भारतीय समाज के एक संरक्षक के रूप में किया करते हैं। हमने उनकी वाणी को अमर बतलाया है और उन्हें विश्व के अग्रगण्य महापुरुषों तक में गिनने में सकोच नहीं किया है। परंतु क्या कभी कोई केवल भक्त, कवि अथवा सुधारक होने मात्र से ही उस संमान का अधिकारी हो सकता है जो उन्हें आज तक आप से आप मिलता आया है? क्या उन्हें अमर कृतियों का रचयिता कहने अथवा ससार के श्रेष्ठ महापुरुषों में गिनने का कोई और भी कारण नहीं हो सकता? इसके सिवाय क्या हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि हमारे उक्त कथनों की प्रामाणिकता सदा विश्वसनीय रह जायगी?

आज हम अपने राष्ट्र की जीवन-यात्रा के पथ पर एक महत्त्वपूर्ण स्थल तक आ पहुँचे हैं। हमारे सामने कुछ नवीन समस्याएँ उपस्थित हैं। आज हमें ऐसा लग रहा है कि हमारा भविष्य जो रूप ग्रहण करने जा रहा है वह हमारे पूर्व-परिचित आदर्शों से कुछ विलक्षण भी हो सकता है। आधुनिक युग की भौतिक उन्नति ने जहाँ कई बिछुड़े हुए देशों को अधिक आगे ला दिया है, वहाँ वह उन्नत देशों को सबके साथ पैर मिला कर चलने को भी बाध्य कर रही है और आज सभी को इस बात का भान होने लगा है कि पृथक्-पृथक् आदर्शों को अब हम कदाचित् ठीक उनके पूर्व-रूपों मे ही नहीं रख सकते। प्रत्येक बात जो कभी किसी जाति वा समाज विशेष के मानदंडानुसार परख ली जाती थी अब किसी सार्वभौम तुला पर भी चढ़ने जा रही है। हमें इस प्रकार देखने का क्रमशः एक अभ्यास पड़ता जा रहा है और ऐसा प्रतीत होता है कि हमें कभी अपनी निधि के अमूल्य रत्नों को भी एक बार फिर से परखना होगा। हमें अपने चिर परिश्रम द्वारा अर्जित उपयोगी सबल को भी कम कर देना पड़ेगा और आगे के लिए केवल उसी को अपनाना होगा जो

उसके अनुकूल हो। हमारी सभी बातें भावी मानव के आदर्शों का अनुसरण करेंगी और उसी दशा मे उनका मूल्य सदा के लिए ठहर भी सकता है। तदनुसार गोस्वामी तुलसीदास की कृतियों को अब हमें केवल किसी साधारण भक्त वा कवि अथवा भारतीय की ही पंक्तियों के रूप में नहीं पढ़ना है। उनमें कथित विषयो की अब हमें एक नवीन व्याख्या करनी चाहिए और उनमे प्रतिपादित सिद्धांतो को सार्वभौम विचारों की दृष्टि से देखना चाहिए। इस प्रकार के अध्ययन द्वारा ही यह समुचित रूप से जाना जा सकता है कि उनके उपर्युक्त संमान का रहस्य क्या है और वह फिर कब तक टिकने योग्य भी है।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह नहीं कि आज तक के आलोचको ने उनकी रचनाओं का अध्ययन व्यापक रूप में नहीं किया है। कुछ विद्वानों ने ऐसा अवश्य किया है, किंतु उस दशा में भी उन्होंने जिस मानदंड का उपयोग किया है वह अधिकतर भारतीय ही रहता आया है। जैसे, गोस्वामी तुलसीदास के काव्य की परीक्षा उन्होंने बहुधा भारतीय साहित्य शास्त्र द्वारा अनुमोदित नियमों के अनुसार जाँच कर की है और उसकी भक्ति को उन्होंने साधारण सांप्रदायिक भक्तिमार्ग के अनुकूल ठहरा कर उसकी उत्कृष्टता सिद्ध करने के प्रयत्न किये हैं। इसी प्रकार, उनके सुधारो की रूपरेखा का अनुमान भी उन्होंने केवल हिंदू समाज के दृष्टि-कोण से ही किया है, जिससे कुछ विद्वानों को उसमें संकीर्णता तक को गंध मिल जाती है। गोस्वामी तुलसीदास एक सच्चे भारतीय थे। उनकी शिक्षा एवं संस्कृति का रूप भी भारतीय था, किंतु उनकी विचारधारा केवल भारतीय ही नहीं थी। सत्य किसी जाति, धर्म वा देश विशेष को वस्तु नहीं; वह शाश्वत एव सर्वदेशीय है और वह किसी भी माध्यम द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। यदि उसका रूप ठीक है और वह सक्षम शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है तो उसके व्यापक होने में कोई भी संदेह नहीं। संकीर्णता का प्रश्न तब आता है जब उसका रूप विकृत और एकांगी-सा दिखायी देता है और उसे व्यक्त करने वाले में अनुभूति की

गहराई की कमी जान पड़ती है। जहाँ कहीं भी सच्ची अनुभूति होगी और उस पर देश-काल के बंधनों का अत्यधिक प्रभाव न होगा वह टूटे-फूटे शब्दों तक में ग्राह्य हो सकती है। देश-काल के बंधनो द्वारा वह बहुधा सीमित बन जाता है और उस पर अनावश्यक रंग भी चढ़ जाता है। परंतु ऐसा तभी संभव होता है जब उसे व्यक्त करने वाले का व्यक्तित्व निर्बल हो और उसमें इन बातों के स्तर से ऊपर उठने की शक्ति न हो। सबल व्यक्तित्व में न केवल सत्य तक पहुँचने की शक्ति रहती है, अपितु वह उसे शुद्ध और अविकृत रूप से उपस्थित भी कर देता है। ऐसे महा-पुरुष की विचारधारा एक देशीय-सी लगती हुई भी सर्वदेशीय होती है और तत्कालीन-सी जान पड़ती हुई भी सर्वकालीन हुआ करती है। वह स्वयं सत्य स्वरूप बन जाता है और उसकी अभिव्यक्ति उसके प्रतिबिंब का काम देती है, जिस कारण वह भी, सत्य की ही भाँति,'देश काल द्वारा अबाधित और अमर हो जाती है।

गोस्वामी तुलसीदास की कृतियों के अमरत्व का कारण समझने के पहले उनके उस व्यक्तित्व का परिचय पा लेना आवश्यक है। इसके लिए केवल उनके भक्त कवि अथवा सुधारक वाले उपर्युक्त रूपों का ही अध्ययन पर्याप्त नहीं और न वे तीनों मिल कर भी हमें उनका पूरा पता देने में समर्थ हो सकते हैं। हमें इसके लिए उनके उस मानव-रूप का अध्ययन करना पड़ेगा जो इन तीनों का भी वास्तविक आधार है और जिसके प्रकाश के द्वारा ही ये सदा प्रकाशित हुआ करते हैं। मानव तुलसीदास, भक्त कवि अथवा सुधारक तुलसीदास से कहीं अधिक महान है और उसे अपनी दृष्टि मे रख कर ही उसकी कृतियों का समुचित अध्ययन किया जा सकता है अथवा उनके मूल्यांकन में प्रवृत्त हुआ जा सकता है। उसका रूप उनकी प्रत्येक पंक्ति में प्रतिबिंबित है। गोस्वामी तुलसीदास का अभी तक प्रामाणिक जीवन-चरित्र प्रकाशित नहीं है और न उनके ग्रंथो के अतिरिक्त किसी अन्य साधन द्वारा हम उन्हें जान ही सकते हैं। जैसे-जैसे हम उनकी रचनाओं को पढ़ते जाते हैं उनके शब्दों

के साथ-साथ उनके अर्थ को अवगत करते चलते हैं और इन दोनों के पीछे हमें सदा उस एक व्यक्ति की परछाँईं का भी अनुभव होता रहता है जो उनकी पृष्ठभूमि का काम करती है और जिसका अस्तित्व ही हमें उनके भीतर निहित सत्य का पता भी देता है। जिस प्रकार किसी चित्र का निर्माण बिना किसी आधार के नहीं हो सकता और उसके रूप-सौंदर्य का भी बहुत-सा श्रेय उसके चित्रपट को ही दिया जाता है, उसी प्रकार शब्द एवं अर्थ के पीछे भी सदा कोई व्यक्तित्व काम किया करता है और उनसे उत्पन्न भाव-सौंदर्य सदा उसी पर निर्भर रहता है। जो शब्द किसी साधारण कवि द्वारा प्रयुक्त होकर केवल अपनी रूढ़िगत सीमा तक ही काम करते हैं, वे ही किसी सक्षम कलाकार की अभिव्यक्ति का माध्यम बन कर इतने शक्तिशाली हो जाते हैं कि उनका प्रभाव बहुत व्यापक और चिरस्थायी भी सिद्ध होता है।

गोस्वामी तुलसीदास के मानव रूप का विश्लेषण करते समय हमें उनकी कुछ रचनाएँ बहुत सहायता पहुँचाती हैं। अपने 'रामचरितमानस' और विशेषतः अपनी 'विनयपत्रिका' के अंतर्गत उन्होंने कई ऐसे संकेत प्रदान किये हैं जिनसे उनके व्यक्तित्व की हमें एक स्पष्ट झलक मिल जाती है। 'रामचरितमानस' में उन्होंने भरत का जो चरित्र-चित्रण किया है, वह कई दृष्टियों से परमोपयोगी है। उसमें उन्होंने भरत को न केवल एक प्रिय बंधु के नाते महत्व दिया है, अपितु उनमें अपने अनुसार एक सच्चे भक्त का भी आदर्श रख दिया है। उन्होंने भरत के विषय में कहते हुए एक स्थल पर यहाँ तक कह डाला है कि "यदि उनका जन्म न हुआ होता, अर्थात् यदि भरत का आदर्श मुझे प्रभावित करने के लिए नहीं मिल पाता तो मेरे जैसे साधारण कोटि के मनुष्य के लिए यह संभव नहीं था कि वह 'राम संमुख' हो पाता।" ये भरत उनके इष्टदेव राम के न केवल भाई और भक्त हैं, प्रत्युत उनके प्रति स्वयं राम का भी स्नेह अतुलनीय है। उनसे भी तुलसी ने कहलवाया है कि भरत के समान कोई प्रिय बंधु नहीं हो सकता। भरत में गोस्वामी तुलसीदास ने जिन गुणों को

प्रदर्शित किया है, उनमें सर्वप्रमुख हैं अनन्यता और आत्मत्याग। अनन्यता का गुण केवल एक भक्त के लिए ही उपयोगी नहीं है, वह संसार के किसी भी श्रेणी के व्यक्ति के लिए सफलता की सबसे महत्वपूर्ण कुंजी है। अनन्य भक्त भरत अपने इस गुण के अनुसार कहते हैं "मुझे अर्थ, धर्म, काम अथवा निर्वाण की गति तक की इच्छा नहीं, मै तो केवल एक ही अभिलाषा रखता हूँ कि जो भी जन्म मुझे मिले उसमें मेरी भक्ति राम के चरणों मे बनी रहे। मैं इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता।" भरत ने अपने इस कथन को अपने आचरण द्वारा सिद्ध कर दिखाया जो 'रामचरितमानस' के पढ़ने से विदित होता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने अनन्यतावाले इस गुण को चातक पक्षी के स्वभाव द्वारा भी स्पष्ट किया है। उन्होंने उसके विषय में 'चातक चौंतीसी' के रूप में कुछ दोहे लिखे हैं जिनमें उसके दृढ़ प्रण की प्रशंसा इन्होने मुक्त कण्ठ से की है। इस सबंध में उन्होंने प्रत्येक बात को व्यक्तिगत रूचि द्वारा सरस बना कर कहा है और उस पक्षी के वर्णन में एक सजीवता ला दी है। उस पक्षी के स्वभाव को अपने ऊपर भी घटाते हुए वे कहते हैं,

एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास।
एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास॥

अर्थात् जिस प्रकार एक चातक पक्षी के लिए सिवाय जल पूर्ण बादल के कोई अन्य सहारा नहीं और न वह कोई दूसरी आशा ही करता है उसी प्रकार मुझे, तुलसी के लिए, भी केवल एक राम ही सब कुछ है। उन्होंने इस बात को अपनी विनयपत्रिका में कई बार दुहराया है और कहा है कि सच्चे अनन्य भाव के अंतर्गत सभी अन्य प्रकार के संबंध एक में बट कर उसे दृढ़तर बना देते हैं और फिर इस प्रकार का भक्त अपने इष्टदेव के प्रति पूर्णतः तन्मय हो जाता है। परंतु गोस्वामी तुलसीदास की यह अनन्यता ऐसी नहीं जो उनमें किसी प्रकार के एकांगीपन का दोष ला दे और वे संकीर्ण हृदय बन जायें। अपने आदर्श की अनन्यता का परिचय

उन्होंने स्वयं अपने इष्टदेव राम से दिलाया है और उनसे हनुमान के प्रति कहलाया है,

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामी भगवंत ॥

अर्थात् वास्तविक अनन्य भक्त वह है जो अपने इस गुण के कारण सारे विश्व को ही अपने इष्टदेव के रूप में देखता है और स्वयं अपने को उसका सेवक मात्र मानता है। इसीलिए जहाँ एक ओर ये 'भरोसौं जाहि दूसरो सों करों' से लेकर 'अपनो भलो राम नामहिं तें तुलसिहि समुझि परो' तक कह डालते हैं वहाँ दूसरी ओर ये 'सीय राम मय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि जुग पानी' भी कहते हैं। इन दोनों का सामंजस्य इनमें पूर्णतया मिलता है।

इनके अपने इष्टदेव राम के प्रति अनन्यता के भाव की भी यह पराकाष्ठा है कि वहाँ पर किसी प्रकार की भी सांप्रदायिकता वा संकीर्णता का पता इनके इष्टदेव राम के रूप में ही पाने की चेष्टा करते हैं। उनका कहना है कि गोस्वामी तुलसीदास ने अपना इष्टदेव उस राम को चुना है जो महाराज दशरथ नाम के किसी अवध नरेश के पुत्र थे और जो कभी केवल एक मानव मात्र रह चुके थे। परन्तु स्वयं गोस्वामी तुलसीदास का कथन ठीक इन्हीं शब्दों में नहीं है और न हमें वे इस प्रकार कहते हुए कहीं दीख ही पड़ते हैं। 'रामचरितमानस' के आरंभ से लेकर अंत तक जब कोई भी उपर्युक्त प्रसंग आया है उन्होंने इस संदेह का निराकरण करने के प्रयत्न किये हैं। इस संबंध में तो यहाँ तक कह देना भी कदाचित् अनुचित न समझा जायगा कि उस पूरे ग्रंथ की रचना केवल इसी एक प्रश्न का समाधान करने के लिए की गयी थी, जिसके अनेक उदाहरण हमें उन संवादों में भी मिल सकते हैं जो शिव एवं पार्वती, भुशुण्डी एव गरुड़ और याज्ञवल्क एवं भारद्वाज के बीच हुए थे। प्रश्नकर्ताओं ने सदा इसी एक प्रश्न को महत्त्वपूर्ण समझ कर अपनी शंकाएँ प्रस्तुत की और उत्तर देनेवालों ने भी उसी का समाधान

किया। संपूर्ण राम-चरित्र वहाँ केवल एक इसी उद्देश्य से कहा गया है और इसी की सिद्धि उस ग्रंथ के रचयिता को अभीष्ट भी थी। इस बात का स्मरण उन्होंने उसके कदाचित् प्रत्येक पृष्ठ पर किसी न किसी रूप में दिलाया है और प्रत्येक प्रसंग से उसे उन्होंने चरितार्थ करने की भी चेष्टा की है।

गोस्वामी तुलसीदास परमतत्व के निर्गुण एवं सगुण रूपों में कोई मौलिक अंतर नहीं मानते। उनका कहना है कि जिस प्रकार जल, हिम एवं उपल सभी एक ही हैं उनमें केवल स्वरूपगत भेद है, उसी प्रकार निर्गुण एवं सगुण को भी एक मान लेना चाहिए। यदि किसी को ईश्वर के प्रति निष्ठा है तो वह उसे किसी भी रूप में अपना कर अपनी साधना में अग्रसर हो सकता है। तत्कालीन निर्गुणिए साधकों के प्रति वे अपना रूढ़ भाव केवल इसी कारण प्रकट करते हैं कि ऐसे लोग, उनकी दृष्टि में, बिना कुछ समझे-बूझे ही बकते फिरते हैं। इस रहस्य को भलीभाँति स्पष्ट कर लेना नहीं चाहते। सगुण भक्तों में से भी उन्हें ऐसे लोगों के प्रति दया आती है जो वैष्णव, शैव जैसे विभिन्न संप्रदायों को एक दूसरे से सर्वथा पृथक् मानते हैं। 'रामचरितमानस' के पृष्ठों में उन्होंने बार-बार इस बात की चेष्टा की है कि राम एवं शिव मे कोई मौलिक अंतर न जान पड़े। राम के अनन्य भक्त होते हुए भी उन्होंने शिव के प्रति अपने कल्याण के लिए प्रार्थना की है और शिव को राम का एक ही साथ 'सेवक', 'स्वामी' और 'सखा' भी कह डाला है। उनके राम 'अशेष कारणों से परे' तथा राम-नामधारी ईश और हरि हैं, किंतु वे उन्हें 'अवधपति' राम से अभिन्न भी मानते हैं। जैसे,

सबका परम प्रकासक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई॥

कह कर उन्होंने रामावतार को उस परमतत्व के स्थान पर ला दिया है जो वैदिक धर्म के अनुसार 'परमज्योतिः' और इस्लाम के अनुसार 'नूर' के नाम से विदित है। निर्गुण एवं सगुण में इस प्रकार का सामंजस्य आ सकता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने भरत में जिस 'त्याग' धर्म को दर्शाया है वह भी एक असाधारण गुण कहला सकता है। उन्होंने इसका वर्णन भी अपनी रचनाओं के अंतर्गत कई भिन्न-भिन्न स्थलों पर किया है और इसे उदाहृत भी किया है। उनके राम तथा उनके तीनों भाई त्याग में एक से एक बढ़ कर दीखते हैं और उनमें से कोई भी ऐसा नहीं जिसे हम त्याग की आदर्श मूर्ति न कह सकें। राम यदि अपने युवराजपन का त्याग करते हैं तो भरत उसके साथ-साथ अपने आपका भी परित्याग करके उनके विरह में १४ वर्षों का साधनामय जीवन व्यतीत करते हैं और लक्ष्मण यदि 'नींद नारि भोजन' की उपेक्षा कर अपने अग्रज के निकट सदा दासवत् बने रहते हैं तो शत्रुघ्न ने अपने को ऐसा भुला दिया है कि उनका कहीं स्वतत्र पता ही नहीं चलता। हनुमान, अंगद, जटायु, दशरथ आदि भी 'मानस' के ऐसे त्यागी पात्र हैं जिनकी समता करनेवाले अन्यत्र बहुत कम मिल सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने इन पात्रों के चरित्रों का चित्रण भी बहुत कुशलता के साथ किया है और उन्हें उच्च कोटि का सिद्ध कर दिया है। त्याग का यह भाव सदा उपर्युक्त अनन्यता के साथ ही संभव हो सकता है और इसमें कपट तथा छल की कभी गंध तक नहीं आ पाती। गोस्वामी तुलसीदास के व्यक्तिगत जीवन में इस गुण का भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उनकी जितनी भी जीवनियाँ अभी तक उपलब्ध हैं, उनमें इसके उदाहरण आदि से अंत तक मिलते हैं और वे उनके सात्विक जीवन को प्रमाणित करते हैं।

इसी प्रकार हम उनकी रचनाओं में एक अन्य ऐसे गुण का भी प्रदर्शन पाते हैं जो किसी से भी कम महत्व का नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास के इष्टदेव राम एक शांत, संयमी और विवेकशील महापुरुष के रूप में चित्रित किये गये हैं। वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। 'रामचरित-मानस' में आदि से अंत तक इस गुण को उनमें उदाहृत किया गया है और इसे महत्वपूर्ण सिद्ध किया गया है। राम जिस व्रत को एक बार

स्वीकार कर लेते हैं उसे अक्षरशः पालन करना वे अपना परम धर्म समझते हैं और वे अपनी प्रचलित परंपराओं की ओर भी सदा ध्यान रखा करते हैं। १४ वर्षों तक किसी नगर में प्रवेश न करने के नियम को उन्होंने उस समय भी निभाया है जब वे लंका पर पूर्ण विजयी बन चुके थे और जब वे अपनी विरहिणी पत्नी को, बिना एक क्षण का भी विलंब लिए, स्वयं जाकर आनंदित कर सकते थे। उस अवसर पर विभीषण ने भी उनसे बड़ी श्रद्धा के साथ अनुरोध किया है, किंतु वे अपने व्रत पर अडिग बने रह गये हैं और सीता को एक साधारण स्त्री रूप में वहाँ आना पड़ा है। किस व्यक्ति के प्रति और किस पर कैसा व्यवहार करना चाहिए इसे राम से बढ़ कर कदाचित् कोई भी नहीं जानता। 'मानस' के अन्य पात्रों में भी हमें इस गुण का यथेष्ट परिचय मिलता है और जिस किसी में इसकी कमी दीखती है उसका पराभव भी निश्चित रहता है। मर्यादा संरक्षण की इस प्रवृत्ति ने गोस्वामी तुलसीदास को परस्पर-विरोधी बातों में सामजस्य बिठाते समय भी बड़ी सहायता पहुँचायी है। ऐसे अवसरों पर उन्हें कभी 'राम के नाते' की मर्यादा काम दे जाती है, कभी 'रामकाज लगि', उन्हें कोई मार्ग सुझा देता है तो कभी 'परम सनेही राम' ही स्वयं उनकी सहायता के लिए उपस्थित रहते हैं और उनके द्वारा चित्रित क्रांतिकारी प्रसंग भी नियमित और मर्यादित से लगने लगते हैं। राजकुमार भरत एवं ब्रह्मर्षि विश्वामित्र निषाद से गले लगा कर मिलते हैं, गीध जटायु नारी-रक्षा के प्रयत्न में अपने प्राण तक दे देता है और शबरी भीलनी के घर राम स्वयं पहुँच जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास को समाज के बड़े व्यक्तियों के प्रति जितनी श्रद्धा है उससे कम उन्हें छोटों के प्रति सहानुभूति भी नहीं। पक्षियों में महानीच समझे जानेवाले कागभुशुंडी के सामने पक्षिराज गरुड़ को शिष्यवत् भेज कर उन्होंने इस बात का एक प्रत्यक्ष उदाहरण उपस्थित कर दिया है। इसके सिवाय परोपकार के गुण को उन्होंने बहुत बड़ा महत्व दिया है। जहाँ कहीं भी कोई अवसर मिला

है, दीन-दुखियों उन्होंने का मार्मिक चित्रण किया है। ऐसे लोगों को वे केवल 'नहिं कटि पट नहि पेट अघाहीं' तक ही नहीं कहते, उनकी क्षुधा को 'आगि बडवा ते बड़ी है आगि पेट की' बतला देना चाहते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने एक साधारण विरक्त साधु के वेप में रहते हुए भी लोक धर्म के महत्व की ओर सदा ध्यान दिया। उन्होंने उपयुक्त अयन्य भाव, आत्म-त्याग समन्वय, मर्यादा-पालन जैसी विश्वजनीन प्रवृत्तियों की इतनी स्पष्ट और सुंदर व्याख्या कर डाली कि वे साधारण से साधारण व्यक्तियों का भी ध्यान स्वभावतः आकृष्ट करने लगीं और उनके उदाहरण में रचा गया इनका 'मानस' अत्यंत लोकप्रिय काव्य बन गया। इनकी रचनाओं को पढ़ने से विदित होता है कि उनमें आयी हुई प्रत्येक बात कवि की गहरी स्वानुभूति और सहृदयता पर आधारित है। उनमें कथनी और करनी का वैपम्य नहीं लक्षित होता और उनके पीछे सर्वत्र एक सुलझा हुआ मस्तिष्क और सच्चा हृदय काम करता हुआ दीख पड़ता है। इस कवि ने 'सीयराम मय जग' में अपने व्यक्तित्व को मग्न-सा कर दिया है। यही कारण है कि इसकी 'स्वांतः सुखाय' की गयी कविता भी 'सब कर हित' करने योग्य हो गयी है। गोस्वामी तुलसीदास का एक चरित्रवान् मानव होना ही उनकी लोकप्रियता का प्रमुख रहस्य है और इस दृष्टि से पढ़ने पर ही हम उनकी रचनाओं के सदा अमर बने रहने की आशा भी कर सकते हैं।

सिख धर्म का सांस्कृतिक विकास

सिख धर्म के मूल प्रवर्त्तक गुरु नानक ने किसी जाति-विशेष के निर्माण का प्रयत्न कदाचित् कभी भी नहीं किया था। आरंभ में उन्होंने एक नवीन संस्कृति वाले आक्रमणकारियों के संपर्क तथा उसके कारण अपने यहाँ की जनता पर पड़नेवाले प्रभावों पर ही ध्यान दिया। उन्होंने देखा कि हमारे यहाँ जिस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था आज तक स्थापित रही है, वैसी आगे नहीं रह सकती। उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की बातें घुसती जा रही हैं, जिनके कारण यहाँ की जनता की मानसिक स्थिति में आमूल परिवर्तन आ जाने की आशंका है। यदि उन पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार कर उसके प्रकाश में अपने को सँभाल न लिया जाय, तो संभव है, हमारी पूर्व स्थिति न रह जाय। अपने यहाँ की मौलिक परंपराओं तथा उनमें अनेक युगों से सन्निविष्ट रहती आयी विशिष्ट धारणाओं के प्रति स्वभावतः उत्पन्न होनेवाली ममता ने ही सत्य ग्रहण की इच्छा से कहीं अधिक उन्हें आकृष्ट किया और वे तात्कालिक समस्या को अपने ढंग से सुलझाने की ओर प्रवृत्त हो गये। उस समय की सामाजिक परिस्थिति एवं समाज की सामुदायिक मनोवृत्ति के कारण उनका पहले धर्म के सहारे चलना भी स्वाभाविक था। उन्होंने सर्वप्रथम परमात्मा का अस्तित्व, उसके स्वरूप तथा उसकी आराधना की समीक्षा आरंभ की और तब दूसरी ओर अग्रसर हुए। फिर भी, उनके प्रारंभिक प्रयत्नों में भी किसी भविष्य के संगठन का बीज वर्तमान था, जो आगे चलकर क्रमशः अंकुरित और पल्लवित हुआ।

गुरु नानक द्वारा प्रवर्तित सिख धर्म अपने प्रारंभिक काल से ही कोरा सैद्धांतिक न होकर साथ ही व्यावहारिक भी था। उन्होंने उसमें रखे जानेवाले परमात्मा के ऊपर गंभीर दार्शनिक दृष्टि से विचार करने की

बहुत आवश्यकता नहीं समझी । उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि इस विषय में "सोचै सोचि न होवई जे सोची लख बार" अर्थात् लाख प्रयत्न करने पर भी, इस विषय में कोई अंतिम निर्णय नहीं दे सकता। इसलिए, ऐसी बातों में उलझ कर दार्शनिक व्यवस्था देने का प्रयास करना समय नष्ट करने से बढ़ कर कभी नहीं कहा जा सकता । उनके बहुत पहले बुद्ध ने भी प्रायः इसी प्रकार के अपने विचार व्यक्त किये थे और दार्शनिक ऊहापोह के फेर में पड़े रहने को अपेक्षा मानव समाज की वर्तमान समस्याओं पर विचार करना ही उन्होंने भी कहीं अधिक श्रेयस्कर समझा था । बुद्ध ने तो यह भी कहा था कि यदि किसी प्राणी के शरीर में कोई विषैला तीर घुस गया हो अथवा कोई मकान आग से जलने लगा हो तो उस समय जिस प्रकार उस तीर की बनावट, उसके बनानेवाले, उसके लोहे की जाति आदि पर ध्यान देने अथवा आग के विशाल रूप, उसके लगानेवाले, उससे होनेवाली दुरवस्था आदि पर विचार करने लगने की अपेक्षा यह कहीं अधिक आवश्यक है कि उस तीर को पहले निकाल लिया जाय अथवा उस आग को बुझा लिया जाय, उसी प्रकार अपने समक्ष आये हुए सामाजिक वा मानवीय दुःखमय प्रश्नों का निबटारा कर लेना ही हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य है । संसार के मूल में वर्तमान वस्तु की खोज करने की ओर पहले ही प्रवृत्त हो जाना, अपनी समस्याओं की गंभीरता की ओर उपेक्षा की दृष्टि डालना है और उससे लाभ की जगह हानि होने की ही अधिक संभावना रहती है ।

गुरु नानक ने इसी कारण परमात्मा के प्रश्न पर उस समय इतना ही कहना पर्याप्त समझा कि वह एकमात्र एवं सदा वर्तमान रहने वाला सत्यस्वरूप है, जिसका परिचय हमें सर्वदा एक शाश्वत नियम के रूप में मिला करता है । उसके सिवा कोई भी दूसरी बात विचारणीय नहीं और सर्वसाधारण के लिए मुख्यतः केवल इतना ही आवश्यक है कि उस नियम में विश्वास रखता हुआ अपने दैनिक कार्य मे प्रवृत्त हो । उस एक की ओर सदा ध्यान बनाये रखने का परिणाम उनके कथनानुसार यह

होगा कि हम सारी सृष्टिमात्र को ही उसका अंग समझा करेंगे। हम इसी कारण किसी की ओर दुर्भावना का रखना अनुचित समझने लगेंगे और हमारे सारे प्रयत्न भ्रातृभावना से प्रभावित होकर हुआ करेंगे। ऐसी स्थिति में छोटे-बड़े, नीच-ऊँच, धनी-निर्धन अथवा मूर्ख-पंडित के विषय में भी हमारे सामने कोई भेदभाव न रहेगा और अपना कोई भी कार्य करते समय हम केवल इसी भाव से अनुप्राणित रहा करेंगे कि वह किसी वृहत् परिवार का एक सदस्य भर रहा है। गुरु नानक ने इस मौलिक धारणा से प्रभावित होने के ही कारण अपने जीवन में किसी प्रकार की सामाजिक विभिन्नता को नहीं माना। प्रसिद्ध है कि उनके साथ सदा रहने-वाला व्यक्ति मर्दाना था जो जाति का मुसलमान था और उन्होंने शेख़ फ़रीद-जैसे पीरों से भी, मित्रता निबाही थी। इसके सिवाय उन्होंने किसी अन्य धनी व्यक्ति के यहाँ जाकर भोजन करने की अपेक्षा एक साधारण बढ़ई का सत्कार ग्रहण किया था। उसके तथा अनेक वैसे ही साधारण कोटि के और लोगों के साथ भी उनका व्यवहार सदा प्रेम एव सौहार्द का ही रहा। उन्होंने सभी प्रकार की जनता के सुभीते की दृष्टि से अपने निवास- स्थान कर्त्तारपुर में 'लंगर' वा सहभोज की प्रथा भी चलायी थी, जिसका प्रचार आगे चल कर और भी बढ़ गया और गुरु रामदास-जैसे उनके अनुयायियों ने ऐसा नियम तक कर दिया कि बिना वहाँ खाये कोई उनसे भेंट तक न कर पाये।

गुरु नानक ने जिस एक दूसरी बात की ओर विशेष ध्यान दिलाया, वह विरक्तिपूर्ण जीवन की अपेक्षा पारिवारिक जीवन को ही अपनाने की प्रवृत्ति थी। उन्होंने संसार की बातों को मायाजनित प्रपंच कहकर टाल देने तथा अपने घर-द्वार का परित्याग कर जंगलों में चले जाने के अत्यत विरुद्ध थे। उन्होंने स्वयं भी एक पारिवारिक जीवन व्यतीत किया था और उनके पीछे आनेवाले अन्य गुरुओं ने भी उनका अनुसरण किया। गुरु नानक ने पहले नौकरी की थी, किंतु अंत में, देश-भ्रमण से लौट कर उन्होंने अपनी खेती-बारी को अपने ढंग से सँभाला और अपने परिश्रम

उत्पन्न की हुई सामग्री पर ही वे संतोष करते रहे। अपने पारिवारिक जीवन में रहते समय भी उन्होंने इस बात की विशेष चिंता नहीं की कि कोई धन-संपत्ति छोड़ कर, अंत में, उसका उत्तराधिकारी किसी अपने पुत्र को बनाता जाय। उन्होंने अपने दो पुत्रों के रहते हुए भी भाई लहना-जैसे एक भिन्न स्थान के किंतु योग्य व्यक्ति को अपने प्रचार-कार्य को बढ़ाने के लिए सौंपा था और इस संबंध में भी उत्पन्न हुई परंपरा का समुचित पालन उनके अनुयायी गुरुओं ने किया। आगे आनेवाले गुरुओं ने सदा इसी बात की ओर विशेष ध्यान दिया कि उनका उत्तराधिकारी कहाँ तक अपने कार्य के लिए योग्य है। उन्होंने इसके कारण उत्पन्न हुए ईर्ष्या, द्वेष अथवा अनेक प्रकार के षड्यंत्रों की सदा उपेक्षा की और अपने कर्तव्य का पालन वे सदा धैर्य तथा आत्मविश्वास के साथ एकनिष्ठ होकर करते गये।

गुरु नानक ने देश में एक तीसरी बात जो अपने सामने आदर्श के रूप में रखी, वह एक सादा और सात्विक जीवन था। उनकी दैनिक आवश्यकताएँ सदा सीमित रहीं और उन्होंने अपने भोजन एवं वेश-भूषा का प्रबंध करने में अधिक व्यय करना कभी उचित नहीं माना। उनका ध्येय 'सादा जीवन और उच्च विचार' के आदर्श पर ही निर्मित था और वे सदा उसी की ओर अपना ध्यान केंद्रित किये रहे। अपने उक्त सीधे-सादे धार्मिक विचारों के अनुसार उन्होंने अपनी आध्यात्मिक साधना को भी केवल ईश्वर-भजन या प्रार्थना तक ही सीमित रखा। उनकी इस प्रणाली में किसी पंडित-पुजारी अथवा पुरोहित-जैसे माध्यम की आवश्यकता नहीं थी। यदि प्रार्थना व्यक्तिगत रूप से की जाती तो उसमें विशेष ध्यान आत्मनिरीक्षण की ओर जाता और यदि वह सामूहिक रूप धारण करती तो उसका लक्ष्य अपने समुदाय के अंतर्गत समानता एवं सहयोग की भावना जाग्रत करना भी हो जाता। गुरु हरगोविंद के समय में जब सिक्ख धर्म के सभी अनुयायी, गुरु से लेकर साधारण व्यक्ति तक, एक साथ लंगर में भोजन करते और एक ही पंक्ति में

प्रार्थना करने बैठ जाते तब जान पड़ता था कि सबके हृदय में एक ही भावना लहर मार रही है और एक ही भाव से सभी उत्तेजित होते जा रहे हैं।

गुरु नानक ने अपना उत्तराधिकारी चुनते समय उसे 'लहना' की जगह 'अंगद' अथवा 'अपना अंगस्वरूप' नाम दिया था और उसे अपनी गद्दी पर बिठाते समय परिक्रमा करके उसके सामने एक नारियल भेंट-स्वरूप रखा। उसे उन्होंने प्रणाम भी किया था, जिसका प्रभाव ऐसा पड़ा कि आगे चलकर सभी गुरुओं ने अपने पीछे आनेवाले का सत्कार उसी प्रकार किया तथा अपने पदों की रचना करते समय अपने नाम के स्थान पर केवल 'नानक' शब्द का ही व्यवहार किया। तदनुसार जिस प्रकार एक दीपक से जलाये हुए सभी अन्य दीपक एक ही ढंग से प्रकाश फैलाते हैं और उनमें किसी प्रकार का भी मौलिक अंतर नहीं रहता, उसी प्रकार उक्त सभी नव सिख गुरुओं ने गुरु नानक द्वारा किये गये प्रस्तावों को उचित एवं सर्वमान्य समझ कर उनका समर्थन किया और उनमें निहित सिद्धांतों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए वे सदा सचेष्ट रहते आये। गुरु अमरदास ने सबके लिए समानाधिकार का सिद्धांत न्यायसंगत मान कर स्त्रियों की शिक्षा तथा अन्य प्रकार की उन्नति की अनेक योजनाएँ प्रस्तुत कीं। उनके लिए स्कूल खोले तथा उनकी पर्दा संबंधी निंदनीय प्रथा को दूर करने के भी प्रयत्न किये। प्रसिद्ध है कि उन्होंने किसी रानी से भेंट करना इसलिए अस्वीकार कर दिया था कि वह उनके यहाँ पर्दे में रह कर आयी थी। गुरु रामदास ने इसी प्रकार अपने प्रतिष्ठित अनुयायियों से भी सत्कार न ग्रहण कर उसकी अपेक्षा एक साधारण स्त्री के हाथ से रूखी-सूखी रोटी ग्रहण कर ली थी और उसे घोड़े पर बैठे-बैठे ही खा लिया था। सिख जाति की स्त्रियों ने इसी कारण अपने पुरुषों के साथ बड़े-से-बड़े कार्य में भी सहयोग दिया। गुरु गोविंद सिंह की स्त्री ने उनके प्रस्तुत किये हुए सर्वप्रथम 'पाहुल' में अपने हाथ से कड़ाह के पानी में गुड़ मिला कर उसे मधुर बना दिया था। इस

प्रकार भविष्य के अन्य कार्यक्रमों के लिए भी आदर्श रख दिया था। गुरु गोविंद सिंह ने समानाधिकार एवं भ्रातृभाव का आदर्श रखते हुए अपने उक्त दीक्षा संस्कार के समय तलवार से कड़ाह का पानी स्पर्श कर उसको नोक से नये सिखों के ऊपर छिड़का। उन्हें इस प्रकार 'खालसा' वा शुद्ध बनाकर उनके द्वारा अपने ऊपर भी वैसा ही कराया। उन्होंने सबके समक्ष ऊँचे स्वर में उद्घोषित कर दिया कि खालसा पंथ में सभी बराबर समझे जायँगे, चाहे उनके कार्य भंगी के ही क्यों न हों। ऐसे उद्गारों ने पहले से आती हुई समानता की धारणा को और भी पुष्ट कर दिया। चारो वर्णों तथा उनके अतिरिक्त किसी पंचम की भी भावना को प्रश्रय देनेवाले हिंदू समाज के समक्ष एक ही 'सिख' सभी वर्णों के समन्वय रूप में दीख पड़ने लगा।

गुरु नानक देव ने आरंभ से ही धार्मिक विधि या विधानों के अक्षरशः पालन करने की अपेक्षा चरित्रबल के निर्माण की ओर अधिक ध्यान दिया था। धर्म-जैसे अंधानुसरण की प्रवृत्ति जगानेवाले विषय के संबध में भी विचार स्वातंत्र्य को ही प्रोत्साहन देने का कार्यक्रम रखा था। उनके अनुसार परमात्मा का कोई भी स्वरूप निश्चित नहीं, उसे अपने अनुभव वा अनुमान के अनुसार ही समझा जा सकता है। इसी कारण, उसकी आराधना करने अथवा दूसरे शब्दों में उसके साथ तदाकारता ग्रहण करने की चेष्टा करते समय अपनी-अपनी भावना के अनुसार सभी कोई किसी एक 'नाम' को लेकर उसे स्मरण करता हुआ, उसके भावों द्वारा अपने को प्रभावित कर सकता है। इसी प्रकार, सिख जाति के सामाजिक संस्कारों में भी, किसी प्रकार के विशेष विधानों या विडंबनाओं को स्थान नहीं। उदाहरण के लिए उनके विवाह-संस्कार, 'आनंद' कही जानेवाली तथा दो-एक साधारण तथा केवल स्वल्प काल की अपेक्षा करनेवाली बातो में ही संपन्न हो जाते हैं। उनकी अन्त्येष्टि क्रिया के लिए भी, किसी प्रकार के बृहत् आयोजन की आवश्यकता नहीं पड़ा करती। सिख जाति द्वारा अनुमोदित गुरुओं के प्रति नित्य प्रदर्शित की जानेवाली

आदर-भावना भी मूलतः किसी व्यक्ति विशेष के प्रति आवश्यकता से अधिक संमान दिखलाने के लिए नहीं उठी थी। उसका मूल वा मुख्य उद्देश्य जीवन में भूलते-भटकते समय, सच्चाई का मार्ग दिखलानेवाले के प्रति अपनी कृतज्ञता के भाव दिखलाना था। सिख गुरुओं ने न केवल अपने सिद्धांतों का मौखिक प्रचार किया था, बल्कि, स्वयं उनके अनुसार अपने जीवन व्यतीत करके भी सबके सामने स्पष्ट और ठोस उदाहरण रख दिये थे। उनके प्रायः एक ही प्रकार के संदेशों को उनकी रचनाओं में पाकर अन्य व्यक्तियों का जी कभी-कभी ऊब उठता है,. किंतु इस प्रसंग में यह बात भी विचारणीय है कि उन लोगों ने किसी बात को उचित एवं सत्य समझ कर उससे दूसरों को लाभान्वित करने के अनेक प्रयत्न उक्त प्रकार से किये हैं तथा उसे सबके हृदयंगम कराने की चेष्टा में उन्होंने कुछ उठा नहीं रखा है।

सिख गुरुओं के सिद्धांतों और उनके व्यवहार में लाने की चेष्टाओं का मूल्यांकन हमें सदा पलटा खानेवाली परिस्थितियों के प्रकाश में उन्हें रख कर ही करना चाहिए। हमें देखना यह चाहिए कि उन लोगों ने भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के आने पर भी अपना दायित्व कैसे निभाया। गुरु नानक देव के समय में जो सामाजिक वा राजनीतिक परिस्थिति थी, वह ठीक उसी रूप में, औरंगजेब कालीन गुरु गोविंद सिंह तक नहीं रह सकी। प्रथम चार सिख गुरु अर्थात् गुरु नानक देव, गुरु अंगद, गुरु अमरदास और गुरु रामदास के सामने अधिक-से-अधिक अपने परिजनों द्वारा प्रदर्शित मनोमालिन्य एवं द्वेष-जनित छोटी-छोटी घटनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं आया। उन्हें धैर्य के साथ सहन कर लेना उनके लिए उतना कठिन नहीं था। किंतु गुरु अर्जुन देव के समय में मुग़ल राज्य के चंदूशाह एवं राजा बीरबर जैसे कर्मचारियों के द्वेष के कारण, स्वयं बादशाहों का भी ध्यान सिख धर्म के गुरुओ तथा उनके अनुयायिओं की ओर क्रमशः आकृष्ट होने लगा और धीरे-धीरे संघर्ष की बुनियाद पड़ने लगी। गुरु अर्जुन देव ने अपनी असाधारण

सहनशीलता द्वारा पहले ऐसी बातों की गंभीरता का अनुभव नहीं किया। परंतु अंत में, उन्हें अपने शत्रुओं के षड्यंत्रो के कारण बंदीगृह में यातनाएँ सहनी पड़ीं और फिर कष्ट झेल कर अपने प्राण भी देने पड़ गये। इस प्रकार प्रचलित राजनीतिक उथल-पुथल के रहते हुए भी, सिख धर्म को उसके प्रभाव से अलग रखनेवाले गुरुओं को ऐसी उलझनों में बलात्कार खिंच जाना पड़ा। गुरु हरगोविंद ने तदनुसार अपनी कमर में एक की जगह दो तलवारें बाँध लीं और अत्याचारी शासकों के विरुद्ध प्रतिशोध के भावों का प्रदर्शन आरंभ कर दिया। अंत में, नवें गुरु तेग़बहादुर की हत्या के उपरांत गुरु गोविंद सिंह ने खुल्लमखुल्ला युद्ध छेड़ दिया। सिखों ने अपने बलिदान के उदाहरणों द्वारा एक नवीन जाति के रूप में जाग्रत हो उठना ही अपने लिए श्रेयस्कर समझ लिया। इस प्रकार आरंभ में शांत प्रकृति ब्राह्मणवत् धर्म-प्रचार करनेवाले व्यक्ति शस्त्रधारी क्षत्रिय बन गये।

सिख गुरुओं ने अपने अनुयायियों को जो उपदेश दिये थे, वे उनके पूज्यग्रंथ 'गुरु-ग्रथ-साहिब' में सुरक्षित हैं। गुरुगोविंद सिंह की रचनाएँ 'दसवाँ ग्रंथ' के रूप में अलग संगृहीत होकर, उसी प्रकार पूजनीय समझी जाती हैं। गुरु गोविंद सिंह के उपरांत गुरुओं की परंपरा समाप्त हो गई, किंतु उक्त मान्य ग्रंथों ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया। जो सिद्धात सभी पहले सिख गुरुओं ने प्रचलित किये थे, उनमें गुरु गोविंद सिंह ने वीर रस-संबंधी कुछ बातों का समावेश कर दिया और इस प्रकार तात्कालिक परिस्थिति की माँग भी पूरी हो गयी। तब से वीर बंदा बहादुर के नेतृत्व में रह कर सिखों ने मुग़ल शासकों के विरुद्ध अनेक युद्ध किये और उनमें कई बार सफलता प्राप्त की। फिर आपस में दो दलों के हो जाने पर भी, भिन्न-भिन्न मिसलो या वर्गों में विभाजित होकर सिखो ने कम-से-कम पंजाब प्रांत के बहुत बड़े अंश पर शासन किया। अत में, महाराज रणजीत सिंह का आविर्भाव हो जाने पर सतलज से लेकर पेशावर तथा काश्मीर से लेकर मुल्तान तक के प्रदेश पर अपना पूर्ण आधिपत्य जमा

लिया। इस प्रकार गुरु नानक देव द्वारा उपदिष्ट एक साधारण धार्मिक समुदाय एक शक्ति-संपन्न एवं सुसंगठित जाति में क्रमशः परिणत हो गया।

परंतु सिखों के सामने सदा वे ही आदर्श रहते आये। एकमात्र अकालपुरुष-रूपी परमेश्वर में दृढ़ विश्वास, सबके प्रति समानता का भाव, सादी रहन-सहन तथा परिस्थिति के प्रतिकूल होने पर भी उससे पराजित न होकर उसके अनुरूप अपना निर्माण-कार्य। पहले तीन कारणों ने उन्हें प्रायः एक ही प्रकार से शांतिपूर्वक रहते हुए एक आदर्श जीवन यापन करना सिखलाया था। किंतु चौथे ने जिसका सूत्रपात गुरु हर गोविंद के समय में हुआ और जिसने आगे चल कर उन्हें अपने को सुरक्षित रखने तथा सँभालने में बहुत बड़ी सहायता पहुँचायी, उनके जीवन में आत्म-विश्वास का भाव भी भर दिया। यह कारण भी वास्तव में प्रथम गुरु नानक देव की व्यापक शिक्षाओं का ही परिणाम था। गुरु नानक ने धर्म को एक व्यावहारिक रूप में देखा था। उन्हें जान पड़ा था कि परमेश्वर को केवल स्मरण करने मात्र का ही ढोंग रच कर कोई धार्मिक व्यक्ति नहीं बन सकता। धार्मिक जीवन समझी जानेवाली स्थिति में रह कर अपने को सबसे अलग मान बैठना और सामाजिक समस्याओं के उपस्थित हो जाने पर पलायन वृत्ति स्वीकार कर लेना निरी कायरता है। यदि वास्तव में, कोई परमेश्वर हो और उसकी भक्ति में अपनी पूर्ण निष्ठा व्यक्त करना अभीष्ट हो, तो यह उस इष्टदेव की प्यारी कृति सारी सृष्टि की उपेक्षा द्वारा उसे अपमानित करने तथा उस पुनीत साधना के साथ व्यभिचार करने के समान भी है। एक स्वर में परमेश्वर वा परमात्मा के नाम पर अधिक श्रद्धा के आँसू बहाते हुए, उसमें वैकुंठ वा मोक्ष की आशा करना और दूसरे स्वर में ही उसके, यदि वह सचमुच सबका मालिक अथवा सर्वात्मरूप है, तो व्यक्त रूप की उपेक्षा करना दोनों परस्पर नितांत असंगत है। गुरुनानक देव ने इसी कारण आदर्श एवं व्यवहार के सामंजस्य का आदर्श सबके सामने रखा था।

गुरु नानक के मतानुसार आदर्श व्यक्ति, जिसे उन्होंने अपने 'जपुजी'

नामक ग्रंथ में 'पंच' की संज्ञा दी है, जो सर्वसाधारण के ही बीच रहा करता है, सर्वसुलभ सामग्रियों का ही उपयोग करता है और सबके समक्ष अपने चरित्रबल के ही सहारे आदर्श रूप ग्रहण कर लेता है। वह कहीं स्वर्गादि-जैसे काल्पनिक स्थानों से उतरा हुआ कोई अवतार नहीं होता। वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ पहले उनके महत्त्व वा उचित मूल्य का ज्ञान प्राप्त करना आरंभ करता है। फिर उन्हें आप-से-आप स्वभावतः करने चलने का अभ्यास डालता है। अंत में, वह ऐसी स्थिति मे आ जाता है जहाँ पहुँच कर उसे पूर्णतः आदर्श रूप उपलब्ध हो जाता है। ऐसी दशा में, कोई समस्या, चाहे वह धार्मिक, सामाजिक वा किसी भी प्रकार की क्यों न हो, उसे अधिक समय तक उलझन में नहीं डाल पाती। वह उनकी कठिनाइयों की तह तक शीघ्र पहुँच कर उन्हें बात-की-बात में दूर कर देता है और ऐसा करते समय उसे किसी बाहरी सहायता की भी आवश्यकता नहीं पड़ा करती। वह स्वयं शक्तिशाली बन कर दूसरों को भी अपनी योग्यता द्वारा बल एवं उत्साह प्रदान करता है। इस प्रकार, समाज के लिए एक पथ-प्रदर्शक बन जाता है।

सिखों की पदवी 'सिख' शब्द स्वयं रहस्यमय है। इसका अर्थ शिष्य है जिसका अभिप्राय सदा सीखनेवाला हुआ करता है। एक आदर्श सिख का, इसी कारण, कर्त्तव्य है कि वह किसी भी प्रश्न को पहले पहल एक जिज्ञासु के रूप में समझने का प्रयत्न करे। उस पर प्रत्येक पहलू से विचार करे तथा उसके मर्म की झाँकी पाकर उसे अपने निजी अनुभव में लाने की भी यथाशक्ति चेष्टा करे। किसी बात के अंतिम स्वरूप का पूर्ण परिचय किसी के लिए भी बोधगम्य नहीं, विश्व स्वयं एक पहेली है। इसके संबंध में आज तक अनेक प्रकार के अनुमान किये गये, किंतु फिर भी प्रश्न जहाँ-का-तहाँ रह गया। उसका अंत किसी ने भी नहीं पाया। जैसा गुरु नानक देव ने कहा है,

एहु अंतु न जाणै कोइ। बहुता कही ए बहुता होइ॥

अर्थात् जितना भी कोई कहता गया, उतना ही प्रश्न और भी विकट

बनता गया और उसमें उत्तरोत्तर उलझनें बढ़ती ही चली गयीं। अतएव ऐसी स्थिति में, सबसे आवश्यक बात यही है कि उसे जिस किसी भी रूप में हो, एक अन्विति का आकार देकर, जहाँ-का-तहाँ रहने दिया जाय। अपने समक्ष प्रतिदिन उत्पन्न होनेवाली विविध समस्याओं के सुलझाने में उक्त आदर्श के प्रकाश में यथासंभव प्रयत्न किया जाय। उसके द्वारा कम-से-कम किसी व्यवहारानुकूल परिणाम तक पहुँच कर उससे लाभान्वित हुआ जाय। जगत जिस प्रकार परिवर्तनशील है, उसी प्रकार उसके प्रश्नों का भिन्न रूपों में उपस्थित होते रहना भी अनिवार्य है। इसलिए सिख जाति के सदस्यों ने उसे परिस्थिति विशेष के अनुसार ही हल करने की चेष्टा की। इसी कारण, वे अपने को सदा बचाते आने में कृतकार्य हुए।

सिख जाति का पूर्व इतिहास अभी बहुत बड़ा नहीं है, किंतु आगे इसमें बहुत विस्तार आ जाने की गुंजायश है। यह एक प्रगतिशील जाति है और इसके आधारस्वरूप नियमों का अधिक अंश कृत्रिमताओं के बंधनों से मुक्त है। इसके भीतर भी सांप्रदायिकता ने समय-समय पर अनेक वर्गों की सृष्टि की है और कभी-कभी उनमें पारस्परिक कलह भी होते रहे हैं। इसके सिवाय, इसका एक पर्याप्त अंश हिंदू धर्म की प्राचीन रूढ़ियो का शिकार भी हो चुका है। परतु, सब कुछ होते हुए भी सिख जाति के नाम पर उसके मान एवं मर्यादा की रक्षा के लिए तथा सबसे बढ़ कर उसके अस्तित्व को अलग बनाये रखने के ही उद्देश्य से अविलंब उठ खड़े हो जानेवालों की संख्या अभी तक कम नहीं है और न निकट भविष्य में ऐसा होने की कभी आशंका हो सकती है। अतएव, संभव है कि गुरु नानक द्वारा बीज-रूप में बोया गया, गुरु अमरदास की भेदभावना रहित विचारधारा द्वारा सींचा गया, गुरु अर्जुन तथा गुरु तेग़बहादुर के उत्सर्गों के आलबाल मे पोसा गया, गुरु हरगोविंद की राजनीतिज्ञता द्वारा सुरक्षित किया गया तथा अत में, गुरु गोविंद सिंह के पराक्रम द्वारा पुष्टि प्रदान किया गया यह वृक्ष किसी दिन भारतीय उद्यान को और भी अधिक सुंदर बनाने में समर्थ हो।

'गोविंद रामायण' की राम-कथा

सिखों के दशम गुरु गोविंदसिंह एक असाधारण महापुरुष थे और उनका कार्यक्षेत्र केवल धर्मोपदेश एवं सैन्य संचालन तक ही नहीं था। एक अनुभवी लोकनायक के रूप में उन्होंने नवीन 'खालसा पंथ' को जन्म देकर उसे संगठित किया और उसके अनुयायियों में जातीयता के भाव भरे। वे शस्त्र-विद्या के साथ-साथ विविध शास्त्रों के भी जानकार थे। काव्य-रचना में निपुण होने के अतिरिक्त, अच्छे कवियों को आश्रय देना भी जानते थे। कहते हैं कि उनके दरबार में ५२ कवि रहा करते थे और उन्हें उनसे अपने साहित्य-सर्जन में सदा प्रोत्साहन मिला करता था। गुरु गोविंदसिंह ने संस्कृत भाषा एवं साहित्य के सम्यक् अध्ययन के लिए रामसिंह, कर्मसिंह, गंडासिंह, वीरसिंह तथा शोभासिंह नामक पाँच सिखों को काशी भेजा था। उन जैसे संस्कृतज्ञ विद्वानों द्वारा अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथों का भाषानुवाद भी कराया था। परंतु वे केवल संस्कृत साहित्य के ही प्रेमी नहीं थे। फ़ारसी, अरबी, ब्रज, राजस्थानी, एवं खड़ी बोली जैसी भाषाओं में वे पंजाबी की ही भाँति अच्छी काव्य-रचना भी कर सकते थे। दिल्ली के तत्कालीन मुग़ल सम्राट् औरंगजेब के यहाँ उन्होंने अपनी फ़ारसी रचना 'जफ़रनामा' भेज कर उसे समझाने की चेष्टा की थी। उनके आश्रित कवियों की समस्त रचनाओं के कलेवर अथवा संख्या का अनुमान केवल इस बात के आधार पर भी किया जा सकता है कि उनके संग्रह 'विद्याधर' को तोलने पर उन्हें नौ मन तक भारी पाया जा सकता था। स्वयं गुरु गोविंदसिंह की भी रचनाएँ संख्या में बहुत हैं और वे विभिन्न प्रकार की भी हैं। ये सिखों के 'दसम ग्रंथ' में संगृहीत हैं। इन्हीं में उनकी रचना 'गोविंद रामायण' भी आती है जिसकी रामकथा एवं रचना शैली का एक संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

'गोविंद रामायण' की रचना अनेक प्रकार के छंदों में हुई है और उनमें से कई एक ऐसे भी हैं जो बहुत दिनों से प्रचलित नहीं है। इस ग्रंथ की भाषा भी मिश्रित है। इसी प्रकार विषय का विभाजन भी अन्य रामायणों की भाँति कांडों के अनुसार न होकर विभिन्न शीर्षकों में किया गया मिलता है जिनके नाम ये हैं—१ रामावतार, २ सीता स्वयंवर, ३ अवध प्रवेश, ४ वनवास, ५ वन प्रवेश, ६ खरदूषण युद्ध, ७ सीताहरण, ८ सीता की खोज, ९ लंकागमन अथवा हनुमान शोध को पठैवो, १० प्रहस्त युद्ध, ११ त्रिमुंड युद्ध, १२ महोदर युद्ध, १३ इंद्रजीत युद्ध, १४ अतिकाय युद्ध, १५ मकराक्ष युद्ध, १६ रावण युद्ध १७ सीता मिलन, १८ अयोध्या आगमन, १९ माता मिलन, २० सीता वनवास, २१ सीता द्वारा जीवन दान और २२ सीता अवध प्रवेश। इनमें से सबका विस्तार भी एक समान नहीं है। इसके छंदों की विविधता, इसकी रचना शैली तथा इसके पात्रों के संवादों को देख कर हमें केशवदास की 'राम चंद्रिका' का स्मरण हुए बिना नहीं रहता। इस रचना की प्रारंभिक पंक्तियों मे ही कह दिया जाता है कि जब असुरों ने संसार में अपने अत्याचार आरंभ किये तो देवता लोग एकत्र होकर क्षीर सागर मे पहुँचे जहाँ ब्रह्मा के साथ विष्णु निवास करते थे। सभी ने मिल कर वहाँ पर आर्त्तनाद किया तथा सबने मिलकर प्रार्थना की, "हे रघुनाथ, अवतार धारण करो और अयोध्या में चिरकाल तक राज्य करो।" कवि का कहना है, "शुद्ध रघु-वश की कथा का सूत्रपात यहीं से होता है। किंतु यदि ऊपरी बातें भी कहीं जायँ तो ग्रंथ का कलेवर बढ़ जाता है। इसलिए सभी संक्षेप मे ही कही जाती हैं"। तदनुसार वह राम-कथा आरंभ करने के पहले क्रमशः रघु एवं अज राजाओं की संक्षिप चर्चा करके आगे बढ़ जाता है।

रघु एवं अज राजाओं के क्रमशः बहुत दिनों तक राज्य करके मर जाने पर उसका शासन भार, अंत मे, दशरथ ने सँभाला। ये मृगया के बहुत प्रेमी थे। इन्होंने 'कुहड़ाम' के कोशलराजा की कन्या कौशल्या और सुमित्रसेन की कन्या सुमित्रा का पाणिग्रहण स्वयंवरों में जा कर

किया। किंतु जब इन दोनों पत्नियों के रहते भी इनके कोई संतान न हुई तो इन्होने फिर केकय राज की पुत्री कैकेयी के साथ विवाह किया जिसने इनसे उसी समय दो वर माँगे। इन दोनों वरों के संबंध में कैकेयी ने फिर उस समय भी पक्की करा ली जब देवासुर संग्राम के अवसर पर दशरथ के देवताओ की सहायता करते समय, उसने उनके निहत सारथी का काम स्वय सँभाला। इस प्रकार उनके साथ विजय लाभ में भी अपना हाथ बँटाया। इसके अनंतर जब मृगयाशील दशरथ एक बार वन में विहार कर रहे थे तो इन्होंने श्रवण को अपने माता-पिता के लिए घड़े में जल भरते समय धोखे में बाण से मार दिया। फिर जब ये अपनी भूल के कारण पछताते हुए उन दोनों को स्वयं जल पिलाने लगे तो उन्होंने दुःखित होकर इन्हें शाप दे दिया कि जिस प्रकार हम पुत्र-वियोग में मर रहे हैं उसी प्रकार तुम भी एक दिन मर जाओगे। राजा दशरथ को इस बात के कारण अत्यंत खेद हुआ। किंतु आकाशवाणी द्वारा यह जान कर कि मेरे घर स्वयं विष्णु अवतार लेंगे इन्हें कुछ अवलंबन मिला। उस आकाशवाणी के आदेशानुसार ही इन्होंने एक 'राजसूय' यज्ञ किया जिसके परिणामस्वरूप यज्ञ पुरुष ने स्वयं प्रकट होकर इन्हें 'खीर' का पात्र प्रदान किया। अंत में उस पात्र की खीर को राजा ने अपनी तीनों रानियों को बुला कर उन्हें इस प्रकार बाँट दिया कि एक को आधा मिला और शेष दोनो को केवल चौथाई-चौथाई भाग मिला। उसके कारण गर्भवती होकर उन्होंने तेरहवें महीने के चढ़ते राम, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न नामक चार पुत्र उत्पन्न किये। राजा ने इस पर प्रसन्न होकर बहुत-सा दान दिया।

जब चारो राजकुमार कुछ बड़े हुए तो उन्होंने शस्त्र एवं शास्त्र की विधियाँ सीखीं और धनुष बाण लेकर खेलने और घूमने लगे। उन्हीं दिनों विश्वामित्र ऋषि 'पितृतोप' नामक यज्ञ कर रहे थे और हवन की सुगंधि से आकृष्ट होकर उसकी सामग्रियों को राक्षसों ने लूटना आरंभ किया। इस बात पर क्रुद्ध होकर विश्वामित्र अयोध्या आये। उन्होंने

दशरथ से कहा कि या तो मुझे तुम राम को दे दो या मैं तुम्हें यहीं भस्म कर दूँगा। इससे भयभीत होकर राजा ने उन्हें अपने दो पुत्र दे दिये और विश्वामित्र उन्हें लेकर लौट आये। आते समय मार्ग में उनका रास्ता रोक कर ताड़का खड़ी हुई जिसे राम ने अपने बाणों से मार गिराया। इसी प्रकार तैयारी के साथ युद्ध करने आये हुए सुबाहु आदि राक्षसों को भी उन्होंने नष्ट कर दिया। इस घोर युद्ध में जो मारे जाने से बच गये वे अपने भेष बदल कर भाग खड़े हुए। उनमें से कुछ ने तो लंका तक में जा कर शरण ली। कवि ने इस युद्ध का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया है। इसी के अनंतर इस ग्रंथ का 'रामावतार' नामक प्रकरण भी समाप्त होता है।

इसका दूसरा प्रकरण राम एवं लक्ष्मण को लेकर विश्वामित्र के सीता स्वयंवर देखने के लिए मिथिला जाने से आरंभ होता है। वहाँ पर राम को देख कर सभी मुग्ध हो जाते हैं और अपने अपने भावानुसार उनके सौंदर्य को हृदयंगम करते हैं। सीता काम-पीड़ित होकर पृथ्वी पर गिर जाती है और उठ कर उन्हें फिर देखती है। इसी बीच में दूत धनुष को राजाओं के बीच लाते हैं और उसे हाथ में लेकर वीर भाव के साथ राम उसके दो टुकड़े कर देते हैं तथा सीता उन्हें वरण कर लेती है। कवि ने यहाँ पर सीता के सौंदर्य का वर्णन आलंकारिक भाषा में किया है और उसकी ओर राम का आकृष्ट हो जाना भी बतलाया है। धनुर्भंग का समाचार पाते ही फिर वहाँ पर श्रीणराम (परशुराम) आ जाते हैं। राम को घेर कर उन्हें ललकारते हैं जिसे देख कर योद्धा भी गर्जने लगते हैं और नगाड़े तक बजने लग जाते हैं। युद्ध की तैयारी का पूरा दृश्य सामने आ जाता है। कवि ने यहाँ पर परशुराम के वीर भेष का बड़ा ही विशद एवं सुनिर्दिष्ट चित्रण किया है। राम की उनके साथ फिर बातचीत होती है और दोनों ही आवेश के साथ बोलते दीख पड़ते हैं। अंत में राम परशुराम का दिया हुआ धनुष चढ़ा देते हैं और परशुराम हार मान कर चुप हो जाते हैं तथा अपनी बाहें फैला कर राम को गले भी लगा लेते हैं।

उक्त घटना के साथ 'अवधप्रवेश' नामक प्रकरण का भी आरंभ होता है और दशरथ की बारात के घोड़े आदि का वर्णन विस्तार के साथ किया जाता है। फिर चारों राजकुमारों की विवाह-विधि संपन्न होती है और वर-वधू लौट कर अयोध्या आते हैं। किंतु यहाँ पर अकस्मात् घोर घटा छा जाती है और चारो ओर उपद्रव के लक्षण दीखने लगते हैं जिसे अपशकुन मान कर दशरथ अश्वमेध यज्ञ की तैयारी करते हैं। इस यज्ञ के पूर्ण हो जाने पर राजा अपने राज्य की तीन दिशाएँ अपने तीनो पुत्रों को बाँट देते हैं और अपनी राजधानी का भाग राम को देने के लिए राज्याभिषेक का प्रबंध करने लग जाते हैं। इतने मे मंथरा के कहने में आ कर कैकयी उनसे अपने पूर्वोक्त दोनो वर माँग बैठती है जिनके अनुसार भरत के राजा होने तथा राम के वनवास जाने का प्रस्ताव छिड़ता है। दशरथ उसे बहुत डाँटते-समझाते हैं तथा स्त्री जाति के स्वभाव की घोर निंदा भी करते हैं, किंतु वह कुछ भी नहीं समझती। अंत में वशिष्ठ मुनि इस बात की चर्चा राम से करते हैं और वे अपना सारा धन लुटा कर वन यात्रा के लिए तैयार हो जाते हैं। सीता भी उनके साथ जाने का आग्रह करती है। उधर लक्ष्मण इसका समाचार पाते ही कैकेयी को बुरा भला कहने लगते हैं। फिर दोनों भाई अपनी माताओं से आज्ञा लेकर सीता के साथ वन की ओर चल देते हैं।

इसके अनंतर 'वनवास' प्रकरण आरंभ होता है जिसमे पहले अयोध्या मे राम के वियोग के कारण कौशल्यादि का दुःखी होना, दशरथ का प्राण-त्याग करना, भरत का अपने ननिहाल से आकर राम से वन में मिलने जाना तथा उनसे उनकी पादुका लाकर राज्य कार्य देखने लगना, आदि का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। कवि ने फिर एक बार सीता के सौंदर्य का वर्णन किया है और विराध राक्षस के ससैन्य आकर राम के साथ युद्ध करने तथा उनसे मारे जाने का विस्तृत परिचय दिया है। इसके साथ ही 'वन प्रवेश' का भी प्रकरण चलने लगता है, जिसमें रामादि के अगस्त्य मुनि के आश्रम मे जाने, उनसे बाणों की भेंट ग्रहण

करने तथा गोदावरी में स्नान करने का उल्लेख किया गया है। इसके पश्चात् शूर्पणखा का प्रसंग भी आरंभ होता है। यहाँ पर कवि द्वारा शूर्पणखा के विषय में किये गये कथन 'नाक कटाई गई गृह को सब' से कुछ ऐसी भी ध्वनि निकलती है जैसे वह राम के यहाँ से केवल असफल और अपमानित होकर ही गयी थी। इसके आगे फिर खर दूषण से युद्ध, सीताहरण एवं सीता की खोज के विषय में छोटे-छोटे तीन प्रकरण आते हैं जिनमें कथा का केवल संक्षिप्त उल्लेख ही पाया जाता है। खोजवाले प्रकरण के अंत मे जटायु-प्रसंग तथा हनुमान एवं सुग्रीवादि के साथ राम की मैत्री का भी वर्णन आ जाता है।

इसके आगे आने वाले 'लंका गमन' प्रकरण में भी हनुमान के लंका जाने, लंका जला कर लौटने तथा सेतु बाँधने की चर्चा संक्षिप्त रूप में की गयी है। विशेषता केवल यही है कि सेतु बाँधते समय लका के कई वीर राम की सेना की रोक-थाम के लिए युद्ध करते हैं और धूम्राक्ष, जांवमाली और अकंपन मारे भी जाते हैं। फिर इधर से रावण के दरबार में अंगद जाते हैं और उसे समझाने-बुझाने की असफल चेष्टा करते हैं तथा अंत में वहाँ से विभीषण को साथ लेकर लौट आते हैं। उधर मंदोदरी अपने पति रावण को शत्रुता के अधिक न बढ़ाने का परामर्श देती है। किंतु वह अपने घमंड में उसकी एक भी नहीं सुनता और अपने कई वीर पुत्रों को सुसज्जित करके रण में भेजता है जिनमें से नरांतक और देवांतक युद्ध में मार दिए जाते हैं और नारदादि प्रसन्नता के मारे नाचने लगते हैं। इस प्रकरण के अनंतर फिर केवल युद्धों के ही दृश्य दीख पड़ते हैं और यह क्रम रावण के बध तक चला जाता है। 'रावण युद्ध' प्रकरण का आरंभ होने के पहले प्रहस्त त्रिमुंड, महोदर, इंद्रजित, अतिकाय तथा मकराक्ष नामक राक्षसो के नामों पर भी लिखे गये छह प्रकरण आते हैं जिनमें से पहले और पाँचवें को छोड़ कर सभी छोटे-छोटे हैं। पहले में प्रहस्त के अतिरिक्त कुंभकर्ण के युद्ध का भी वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया गया है। इसी प्रकार इंद्रजित युद्ध

वाले प्रकरण में मेघनाद के तीरों द्वारा रामादि के मूर्छित हो जाने पर रावण की आज्ञा के अनुसार त्रिजटा के साथ सीता का युद्ध का दृश्य भी निरीक्षण करना दिखलाया गया है। कवि का कहना है कि उस समय सीता ने ही नागमंत्र पढ़ कर सभी लोगों को नागपाश से मुक्त कर दिया और लक्ष्मण को पुनर्जीवन प्रदान किया।

रावण युद्धवाला प्रकरण इस पुस्तक के बड़े-बड़े खंडों में से एक है। इसमें कवि ने युद्ध-सबंधी घटनाओं को कुछ अधिक विस्तार के साथ लिखा है। रावण के बीसों हाथो में से प्रत्येक में किसी न किसी हथियार का होना बतलाया गया है, जिनमें अनेक प्रकार की तलवारों के अतिरिक्त परशु, त्रिशूल, हथनाल, गदा, छूरा, तीर-कमान, पाश, बिछुवा, पटा, सँडसो, बरछी तथा गुलेल जैसी वस्तुएँ भी थीं। वह यदि अपने एक मुख से 'शिव शिव' कह रहा था तो दूसरे मुख की आँखों से सीता की सुंदरता देख रहा था, तीसरे से वीरों को ललकार रहा था, चौथे से 'मारो, मारो' कहता जा रहा था, पाँचवें, छठें तथा सातवें के द्वारा क्रमशः हनुमान, विभीषण एवं सुग्रीवादि से घिरे राम की ओर देख रहा था, आठवाँ मुख केवल इधर-उधर घुमाता था, नवें से वीरों को प्रोत्साहित करता जाता था और उसके दसवें मुख को देख कर ऐसा जान पड़ता था कि वह रोष के मारे लाल हो गया है। राम एवं रावण के युद्ध को देख कर चंद्रमा चकरा गया और शंकर की भी समाधि टूट गयी तथा सभी दिग्पाल प्रलय का अनुमान करने लगे। रावण ने एक बार लक्ष्मण को फिर मूर्छित कर दिया था और जब उसके रथ वाले घोड़े निहत हो गये थे तो वह बरछी, भाले आदि के साथ पैदल ही युद्ध करने लगा था। कवि का कहना है कि राम ने इस महासमर में विजय पाकर ऐसा कर दिखाया मानों उन्होंने युद्ध के इस स्वयंवर में सीता का एक बार फिर वरण किया हो।

इसके अनंतर 'सीता मिलन' नाम के प्रकरण का आरंभ होता है और रावण वध से शोकाकुल हुई रानियों की दशा का वर्णन किया जाता

है। वे रानियाँ राम को देख कर उनकी ओर आकृष्ट होती हैं और मंदोदरी से राम अपनी निर्दोषता भी प्रकट करते हैं। फिर राम की आज्ञा से हनुमान सीता को लंका नगरी से बाहर लाते हैं, उसे अग्नि में प्रवेश करना पड़ता है और तदनंतर सीता एवं राम के मिलन की प्रसन्नता में सर्वत्र विजय मनायी जाने लगती है। इसके पीछे 'अयोध्या आगमन' का प्रकरण आता है जिसमें राम पुष्पक-विमान पर चढ़ कर अयोध्या की ओर प्रस्थान करते हैं। उनके अयोध्या में पहुँचने पर सभी उनका स्वागत करते हैं और उनके सौंदर्य से आकृष्ट हुई वहाँ की नारियाँ उन्हें फिर से देखने के लिए दौड़ पड़ती हैं तथा बुद्धिमान लोग दूर से ही उनका अभिनंदन करते हैं। फिर 'माता मिलन' के प्रकरण में रामादि का अपनी माताओं के साथ भी मिलन कराया जाता है और तब राम के राजा होने की घोषणा की जाती है। इस अवसर पर अनेक राजा आमंत्रित होते हैं और उनमें से कई उनके पैर छूते तथा चीन आदि देशों की बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट करते हैं। राम एक बहुत बड़े और प्रतापी राजा सिद्ध होते हैं और उन्हें जो कोई भी देखता है वह अपने भावों के अनुसार उनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करता है। राम इस प्रकार सभी लोकों के स्वामी हैं, वे अभय हैं, अजेय हैं, अयोनि हैं, अजन्मा हैं, अलय हैं तथा स्वयं प्रकृति-पुरुष भी कहे जा सकते हैं। वे भरत, लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न को भी राजपद प्रदान करते हैं। शत्रुघ्न को वे मथुरा भेजते हैं जहाँ पर उन्हें शिव से त्रिशूल प्राप्त करने वाले लवणासुर को मार कर अपना राज्य स्थापित करना पड़ता है।

ग्रंथ के अंतिम तीन प्रकरण प्रधानतः सीता के चरित्र से संबंध रखते हैं और उनका उसी के अनुसार नामकरण भी किया गया है। इनमें से पहले अर्थात् 'सीता वनवास' प्रकरण में सीता जंगल देखने की इच्छा से ही लक्ष्मण के साथ वहाँ भेजी जाती हैं और वाल्मीकि आश्रम के निकट छोड़ दी जाती है। गर्भिणी सीता को उस आश्रम में रहते समय लव नाम का पुत्र उत्पन्न होता है। फिर एक दिन उसी की

आकृति का एक बालक वाल्मीकि ऋषि भी निर्माण कर उसका नाम कुश रख देते हैं तथा दोनों भाइयों का नियमानुसार पालन एवं शिक्षण कार्य भी चलने लगता है। उधर अयोध्या में राम द्वारा अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया जाता है और इसके निमित्त छोड़े गये घोड़े के साथ जाने वाले शूरवीरों से लव एवं कुश युद्ध ठान देते हैं। कवि ने इस युद्ध का वर्णन विस्तार के साथ किया है। इसके अंत में क्रमशः लक्ष्मण, सुग्रीव, विभीषण, भरत और स्वय राम को भी उन दोनों भाइयों द्वारा निहत करा दिया है। अतएव इसके बाद वाले प्रकरण में सीता विलाप करती हुई सती होने का आयोजन करने लग जाती हैं। आकाशवाणी के अनुरोध से फिर सभी मृतकों को जल से सींच कर जिला भी देती हैं। इसके अनंतर, अंतिम प्रकरण के अनुसार सभी अयोध्या लौट आते हैं और वहाँ एक बार फिर राम का राज्य आरंभ होता है। राम अनेक प्रकार के यज्ञ करते हैं और बड़ी सफलता के साथ दस सहस्र वर्षों तक अपने राज्य का दायित्व भी सँभालते हैं। एक दिन कतिपय स्त्रियों के पूछने पर सीता एक दीवार पर रावण का चित्र बना देती हैं, जिस कारण राम उनमें सदेह प्रकट करते हैं। इससे रुष्ट होकर सीता पृथ्वी में प्रवेश कर जाती हैं। किंतु राम सीता के इस वियोग को सहन नहीं कर पाते और योगाभ्यास द्वारा शरीर छोड़ कर परमधाम चले जाते हैं। इसके अनंतर क्रमशः भरत, लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न भी वैसा ही करते हैं। फिर कुश तथा उनके तीन चचेरे भाई चारों दिशाओं में राज्य करना आरंभ कर देते हैं और लव अयोध्या के केंद्र में अभिषिक्त होते हैं।

गुरु गोविंदसिंह ने इस रामायण के अंत में कहा है: "श्रीराम की कथा प्रत्येक युग में अटल रहेगी और इसका वर्णन सब लोग अनेक प्रकार से करते हैं।"[1] इन्होंने स्वयं भी इसमें किसी एक ही परंपरा का

---

[1] 'रामकथा जुग जुग अटल, सब कोइ भाखत नेत'

अनुसरण नहीं किया है और न, इसकी रचना करते समय किसी एक ही शैली विशेष को अपनाया है। राम-कथा का आरंभ ये वहाँ से करते हैं जब असुरों का वंश प्रकट होकर उपद्रव करने लगा था और कोई भी उन्हें हरा न पाता था। अतएव, देवता लोग एकत्र होकर क्षीर समुद्र में जाते हैं और वहाँ पर शयन करने वाले विष्णु से अवतार धारण करने का अनुरोध करते हैं। ये लोग विष्णु को अपना यह सुझाव भी देते हैं कि आप चल कर अवध में 'रघुनाथ' बन कर जन्म लें और वहाँ चिरकाल तक राज्य भी करें। यह प्रसंग वाल्मीकीय 'रामायण' मे नहीं आता। गोस्वामी तुलसीदास के ग्रंथ 'रामचरित मानस' में भी भानुप्रताप राजा के सपरिवार रावणादि के रूप में जन्म लेकर उपद्रव करने लगने पर, स्वयं पृथ्वी 'धेनु' बन कर देवों, मुनियों, तथा गंधर्वादि से अपना दुखड़ा रोने लगती है। वे सभी ब्रह्मा के लोक में जाते हैं और वहाँ पर सबके मिल कर स्तुति करने पर, 'हरि' की ओर से 'गगन-गिरा' होती है कि आप डरें नहीं, मैं आप लोगों के लिए नर शरीर धारण करूँगा और कश्यप एवं अदिति के घर जो दशरथ एवं कौशल्या के रूप में हैं, कौशलपुरी में जन्म लूँगा। गुरु गोविंदसिंह के कथन से प्रतीत होता है कि राम विष्णु के अवतार थे, जहाँ गोस्वामी तुलसीदास उन्हें ऐसा समझते नहीं जान पड़ते। 'मानस' के ब्रह्मादिक 'पयोनिधि' अर्थात् क्षीर-सागर तक नही जाते। जहाँ है वहीं एकत्र होकर स्तुति करते हैं और वे 'अवध' में ही अवतार धारण करने का स्वयं प्रस्ताव भी नहीं करते।

'गोविंद रामायण' की एक दूसरी विशेषता यहाँ पर इस रूप में देखी जाती है कि इसका कवि कथारंभ के पहले रघु एवं अज के भी राज्यकाल का उल्लेख करता है तथा दशरथ को एक मृगयाशील नृप के रूप में चित्रित करता है। यह बात भी उपर्युक्त दोनों रचनाओं मे यहाँ पर नहीं दिखायी पड़ती। इसके साथ ही साथ इस 'रामायण' में यहीं पर श्रवण-कुमार की कथा भी आ जाती है जिसकी ओर 'मानस' के अयोध्या कांड में केवल संकेत मात्र ही कर दिया गया है। दशरथ का कौशल्या

एवं सुमित्रा से स्वयंवर के द्वारा विवाह करना तथा उनसे कोई पुत्र न होने पर कैकेयी का भी पाणिग्रहण करना और देवासुर सग्राम के अवसर पर कैकेयी द्वारा सहायता पाकर उसे दो वर प्रदान करने का वचन देना भी यहीं पर बतला दिया जाता है। श्रवणकुमार वाली घटना के अनंतर दशरथ घर लौट कर राजसूय यज्ञ करते दीख पड़ते हैं। इस यज्ञ में ही अधिक आहुति देने पर उन्हें 'खीर' का पात्र मिल जाता है। इस 'रामायण' में न तो वाल्मीकीय 'रामायण' की भाँति, ऋष्यनृंग की कथा ही दी गयी है और न उनके द्वारा अश्वमेध यज्ञ कराया गया है। यहाँ पर किसी पुत्रेष्टि यज्ञ के पृथक् किए जाने का भी उल्लेख नहीं है। किंतु 'मानस' के 'अगिनि' की भाँति यहाँ पर भी 'यज्ञ-पुरुष' खीर पात्र लेकर उत्पन्न हो जाते हैं और उसे राजा को देते हैं। इस 'रामायण' के विश्वामित्र भी 'पितृतोष' नामक एक विशेष यज्ञ करते हैं। दशरथ को अपने पुत्रों को उन्हें देने में किसी प्रकार की हिचक प्रदर्शित न करने पर भी, वे स्वयं कह उठते हैं : "मुझे अपने पुत्र राम को दे दो नहीं तो मैं तुम्हें यही पर भस्म कर दूँगा।" वे क्रुद्ध होकर ही वहाँ आते भी हैं। उनके मार्ग में राम के साथ जाते समय का गंगावतरण वर्णन अथवा वामनावतार वर्णन, इस रामायण में नहीं आता और न अहल्योद्धार की ही कथा आती है। यज्ञ-भूमि में उनके पहुँचने पर सुबाहु एवं मारीच राम से दो दिनो तक युद्ध करते हैं।

सीता-स्वयंवर के प्रसंग में परशुराम का आना, यहाँ पर भी 'मानस' की ही भाँति ठीक धनुर्भंग के अनंतर दिखलाया गया है। किंतु यहाँ पर उनके साथ लक्ष्मण की बातचीत नहीं करायी गयी है और उन्हें डाँटने का काम भी यहाँ पर स्वय राम के ही सुपुर्द है। विवाह के अनंतर बरात के अयोध्या लोटने पर अकस्मात् घोर घटाओं का उठना और दिग्दाह के कारण अपशकुन का सूचित होना तथा उसके निवारणार्थ अश्वमेध यज्ञ का किया जाना 'मानस' में वर्णित नहीं है। अपशकुन का होना वाल्मीकीय 'रामायण' में अवश्य दिखलाया गया है, किंतु वहाँ पर भी

ऐसा दशरथ की बरात के लौटते समय, परशुराम मिलन के पहले हो जाता है। राम के राज्याभिषेक की तैयारी के अवसर पर कैकयी को वहकाने वाली मंथरा को 'मानस' मे चेरी कहा गया है। किंतु इस 'रामायण' में वह ब्रह्मा द्वारा भेजी गयी गंधर्विणी है जो, संभवतः 'महाभारत' के 'रामोपाख्यान' तथा 'आनंद रामायण' के आधार पर यहाँ लायी गयी है। कवि ने रामादि के वन प्रवेश के समय वाले विराध के युद्ध का वर्णन बड़े विस्तार से किया है। इस अंश के रचयिता का नाम 'श्याम' कवि दिया है; 'सुकवि श्याम इह बिध कह्यो, रघुवर युद्ध प्रसग' जिससे प्रतीत होता है कि इनकी रचना कदाचित् उसी श्याम कवि ने की होगी जो गुरु गोविंदसिंह के ५२ दर्बारी कवियों में से एक था। इस 'रामायण' के अंतर्गत और भी युद्धों के अनेक विस्तृत वर्णन आये हैं। उनमें विशेष रुचि भी प्रदर्शित की गयी है, किंतु वहाँ पर किसी कवि विशेष का स्पष्ट उल्लेख नहीं पाया जाता। इस 'रामायण' में ऐसे युद्धों के क्रम एवं स्वरूप का निर्देश भी कहीं-कहीं एक निराले ढंग से किया गया है। प्रायः सभी युद्धों मे हाथी और घोड़े रहते हैं और इन दोनों से जुते हुए रथ भी दीख पड़ते हैं। रावण के हाथों में विविध अस्त्र-शस्त्रादि के अतिरिक्त 'हाथीनाल' नाम का एक हथियार भी दिखाया गया है जो सभवतः कोई छोटी-सी बंदूक है। बाजे अनेक प्रकार के बजते हैं और कुंभकर्ण को जगाते समय तो उसके कानों के भीतर हाथी घोड़ों के साथ घुस कर 'कान्हड़ा राग' तक बजाया जाता है। इसके भी असफल होने पर उसे देवकन्याएँ गा-गा कर जगाती हैं। इस कुंभकर्ण को पहले सुग्रीव गिरा देते हैं, तब उसे राम अपने बाणों से मारते हैं। अतिकाय को लक्ष्मण अपनी तलवार द्वारा मार कर दो टुकड़े कर देते हैं और लक्ष्मण के रावण द्वारा (न कि इंद्रजीत द्वारा) मूर्छित किये जाने पर हनुमान को संजीवनी बूटी लाने की आवश्यकता पड़ती है। सुबाहु वाले युद्ध के प्रकरण मे कुछ भागने वाले राक्षस 'भगव वस्त्र' अर्थात् जोगियों के भगवा वस्त्र पहन कर भागते दीख पड़ते हैं। सीता-हरण के अवसर पर रावण भी कदाचित्

जोगी-भेष में ही 'अलख जगाता हुआ' भीख माँगने के लिए प्रस्तुत होता है।

'गोविंद रामायण' की राम कथा 'मानस' की भाँति केवल रामराज्य के वर्णन तक ही समाप्त नहीं हो जाती। इसमें सीता-त्याग तथा अश्वमेध के अवसर पर होनेवाले लव-कुश के युद्धों तक का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। सीता-त्याग के लिए यहाँ पर लोकापवाद का कोई कारण नहीं दिया गया है और न इसमें किसी धोबी का ही वृत्तांत आता है जिसकी चर्चा अनेक अन्य रामायणों में पायी जाती है। सीता द्वारा रावण के किसी चित्र का निर्माण भी यहाँ पर उनके बनवास का कारण न बन कर उनके पृथ्वी में प्रवेश कर जाने की भूमिका प्रस्तुत करता है। लव-कुश के साथ राम के भाइयों तथा अनुचरों का युद्ध दिखलाते समय यहाँ पर भी दोनों बालको का ही उत्कर्ष प्रदर्शित किया गया है और उनके हाथों स्वयं राम तक 'जूझ' जाते हैं। किंतु 'जैमिनीय अश्वमेध' जैसे ग्रंथों में जहाँ राम की समस्त सेना को वाल्मीकि मुनि जिलाते हैं वहाँ इस रामायण में स्वयं सीता ही यह कार्य कर देती हैं। इस प्रकार युद्धोपरांत पुनर्जीवित हो उठने पर भी सीता के पृथ्वी प्रवेश द्वारा शोकाकुल होकर कथा का रूप दुःखांत हो जाता है और इसका मार्जन लवकुशादि के राज्य करने लगने से भी नहीं हो पाता। इस बात में इस 'रामायण' के रचयिता ने 'वाल्मीकीय रामायण' तथा भवभूति के 'उत्तररामचरित' आदि का अनुसरण किया है।

'गोविंद रामायण' की रचना बहुत कुछ कवि केशवदास की 'रामचंद्रिका' के आदर्शों पर हुई जान पड़ती है। इसका रचयिता भी रामकथा के घटना-प्रवाह की ओर विशेष ध्यान न देकर उसके दृश्य विशेष को ही अपने वर्णन का लक्ष्य बनाता है और इसमें न्यूनाधिक नाटकीयता भी ला देना चाहता है। इस कारण, इसके अंतर्गत आये हुए कुछ संवादों में सजीवता आ गयी है। इसके युद्धों की सामग्रियों के कतिपय वर्णन भी बहुत स्पष्ट हो गये हैं। सीता एवं राम जैसे पात्रों के सौंदर्य एवं परशुराम जैसे व्यक्तियों के शौर्य का चित्रण करते समय भी कवि ने अपनी

सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है और ऐसे स्थलों पर प्रदर्शित की गयी उसकी अतिशयोक्ति भी बहुत कम खटकती है। उसका वीर, वीभत्स एवं रौद्र रसों का वर्णन तो विशेषतः उल्लेखनीय है। अपने इन वर्णनों में वह बहुधा कवि संप्रदाय का ही अनुसरण करता है। किंतु इस ओर अपने आग्रह के कारण वह कभी-कभी आवेश में भी आ जाता है। अतएव दो चार ऐसे स्थलों पर हमें इसमें कालदोष (Anachronism) विषयक त्रुटि का भी आभास होने लगता है। युद्ध में प्रायः एक ही प्रकार डाकिनी, जोगनी आदि के आकार उल्लास प्रदर्शित करने तथा अश्वादि के बढ़ने एवं शूरवीरों के लड़ने के विवरणो में भी अधिकतर द्विरुक्ति जान पड़ती है। फिर भी उनमें प्रयुक्त युद्धोचित कर्णकटु शब्दो तथा विचित्र छंदों के कारण तज्जन्य अरुचि अथवा शिथिलता नहीं आने पाती। युद्ध वर्णनों में आये हुए इसके अनेक वेडौल और कृत्रिम शब्द, अर्थहीन से दीख पड़ने पर भी, स्वाभाविक लगने लगते हैं।

'गोविंद रामायण' की रामकथा के राम को विष्णु का अवतार कहा गया है, किंतु वे अधिकतर एक महान पुरुष के रूप मे ही दीख पड़ते हैं। वे एक असाधरण व्यक्ति हैं जो एक ही साथ शूरवीरो का रणभूमि में सामना करते हैं और उनके ऊपर विजय भी पाते हैं। वे एक ऐसे प्रतापी राजा भी हैं जिनके यहाँ दूर-दूर के सम्राट आकर अपनी आधीनता स्वीकार करते हैं और उन्हें बहुमूल्य भेंट में अर्पित करते हैं। किंतु इसकी सीता उस समय अपने ऐसे पति से भी किसी प्रकार कम नहीं जान पड़ती जब वे समर-स्थल पर त्रिजटा के साथ आकर राम की मरी एवं मूर्छित सेना को एक बार पुनर्जीवित कर देती हैं और अपने नागमंत्र द्वारा स्वयं राम का भी नागपाश काट देती है। लव-कुश द्वारा सभी लोगो के आहत होकर मर जाने पर तो उनकी यह शक्ति और भी प्रदीप्त हो उठती है। ऐसे ही गुणों के कवि ने कदाचित् उनके सतीत्व का उदाहरण माना है और इन्हीं के कारण, उनके पृथ्वी-प्रवेश कर जाने पर, उनके वियोग मे स्वयं राम का भी शरीर त्याग करा दिया है।

विदेशों में राम-कथा

भारतवर्ष में इस समय प्रायः सर्वत्र प्रसिद्ध और प्रचलित राम-कथा का प्रचार केवल इसी देश तक सीमित नहीं है। यहाँ के निवासियों ने प्राचीन काल में अपने उपनिवेश जहाँ-जहाँ बनाये अथवा जिन-जिन देशों के साथ उन्होंने आने-जाने, व्यापार करने तथा धर्म प्रचारक भेजने का संबध स्थापित किया, वहाँ-वहाँ उन्होंने इस कथा के प्रचार का एक क्षेत्र भी तैयार कर दिया था। फलतः हम देखते हैं कि इस प्रकार के देशों में यह न केवल अपने मूल रूप में ही दीख पड़ती है, अपितु क्रमशः इसका अपना एक स्वतंत्र विकास भी होता गया है। आज की खोजों से पता चलता है कि भारतवर्ष के उत्तर में नैपाल तिब्बत चीन और खोतान, पूर्व की ओर ब्रह्मदेश, श्याम और हिंद्चीन तथा पूर्व दक्षिण के मलय, यव द्वीप, बाली तथा लंबक जैसे देशों के जन-जीवन में इसने अपना एक प्रमुख स्थान बना लिया है। वहाँ के विविध साहित्यों, सामाजिक उत्सवों और धार्मिक परंपराओं में यह इस प्रकार प्रवेश कर चुकी है कि वहाँ इसे बाहर से लायी गयी ठहराना सरल नहीं रह गया। इसके सिवाय, भारतवर्ष की संस्कृत भाषा की रामायण के विभिन्न अनुवाद इसके पश्चिम वाले ईरान और अरब तक के देशों में पाये जाते हैं। वे अनेक यूरोपीय देशों में भाषातरित हो चुकी है, जहाँ के ईसाई मिशनरियों के कारण इस कथा मे कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन तक हुआ प्रतीत होता है। परंतु राम-कथा के इस प्रकार सुदूर देशों तक फैलने का कोई क्रमबद्ध इतिहास अभी तक उपलब्ध नहीं है। अतएव हम यहाँ पर केवल इसके विदेशो मे प्रचलित विविध रूपों का एक दिग्दर्शन मात्र ही करा सकेंगे।

राम-कथा का चीनी अनुवाद

इतिहास से पता चलता है कि ईसवी सन् का आरंभ होने के समय तक कुषाण वंश का राज्य काशी से खोतान देश तक फैला हुआ था। इस सन् की दूसरी शताब्दी तक बौद्ध धर्म, संस्कृति और साहित्य का प्रचार मध्य एशिया से चीन देश तक सर्वत्र होने लगा था। फिर क्रमशः नैपाल के साथ तिब्बत और तिब्बत के साथ चीन के भी संपर्क में आ जाने पर इस सन् की सातवीं शताब्दी तक भारत के साथ इन सभी देशों का संबंध पूर्णतः स्थापित हो गया। ईसा की तीसरी शताब्दी में बौद्धों के 'अनामक जातकम्' का चीनी अनुवाद हुआ, जिसमें, किसी भी पात्र का नाम स्पष्ट न दीख पड़ने पर भी, राम और सीता के बनवास, सीताहरण, जटायु वृतांत, वालि-सुग्रीव युद्ध, सेतुबंध और सीता की अग्नि-परीक्षा तक की रामकथा का न्यूनाधिक वर्णन पाया जाता है। इसमें आयी हुई राम-कथा की विशेषताओं में राम का, अपने मामा के आक्रमण की तैयारियाँ सुन कर अपने राज्य छोड़ देना तथा वालि का राम के अनुसंधान को देते ही भयभीत होकर भाग जाना उल्लेखनीय है। इसी प्रकार बौद्धों के एक दूसरे जातक 'दशरथ कथानम्' का भी चीनी अनुवाद मिलता है, जिसमें राम एवं लक्ष्मण के बनवास की कथा तो आती है, किंतु राम की पत्नी का वर्णन नहीं मिलता और न इसी कारण, उसमें किसी युद्ध का ही विवरण पाया जाता है। बौद्धों को कदाचित् युद्धादि की चर्चा पसंद नहीं थी। उन्हीं के एक तीसरे ग्रंथ, कात्यायनी पुत्र कृत 'ज्ञान प्रस्थान' की बृहत् टीका 'महाविभाषा' के दो सौ खंडों में से ४६ वें में रामायणी कथा का सीताहरण से लेकर सीता उद्धार तक का अंश आता है, जिसका एक चीनी अनुवाद प्रसिद्ध यांत्री हुएनत्संग द्वारा भी किया गया बताया जाता है।

तिब्बती रामायण

तिब्बती रामायण की जो हस्तलिपियाँ उपलब्ध है, वे संभवतः

आठवीं अथवा नवीं शताब्दी की हैं। इनमें सर्वप्रथम रावण की कथा दी गयी मिलती है, जिससे पता चलता है कि सीता उसी की पटरानी की पुत्री है, जो जन्म-पत्र से नष्टकरी सिद्ध होती है और समुद्र में फेंक दी जाती है। इस रामायण के अनुसार दशरथ की केवल दो ही पत्नियाँ हैं, जिनमें से कनिष्ठा के गर्भ से स्वयं विष्णु उत्पन्न होते हैं और 'रामन' कहलाते है। ज्येष्ठ से विष्णु के किसी पुत्र की उत्पत्ति होती है और उसका नाम 'लक्ष्मण' रखा जाता है। दशरथ के सामने इस प्रकार की समस्या उपस्थित हो जाने पर कि दोनों पुत्रों में से किसे राज्य दिया जाय, रामन लक्ष्मण को ही राज्य दिला देते हैं और स्वयं आश्रम में तपस्या करने चले जाते हैं। किंतु फिर वहाँ उन्हें समुद्र से बचायी गयी कन्या 'जीता' एवं 'लीलावती' को जब कृपक लोग समर्पित करते हैं, तो वे उनके अनुरोध से विवाह भी कर लेते हैं। तिब्बती रामायण की सीता का हरण राजधानी के ही निकट किसी अशोकवन से होता है और वहाँ पर रावण सीता के अंग का स्पर्श भी नहीं करता। रावण जटायु का बध, उसे रक्त से सने पत्थर खिलाखिला कर करता है, उसे अपने बाणों या अन्य अस्त्र-शस्त्रों से नहीं मारता।

सुग्रीव का मल्लयुद्ध भी यहाँ पर सुग्रीव के गले में माला डाल कर नहीं होता प्रत्युत उनकी पूंछ मे एक दर्पण बाँध कर आरंभ किया जाता है। सीता की खोज करते समय एक दूसरे की पूंछ पकड़ कर ही वानर लोग 'स्वयंप्रभा' की गुफा में प्रवेश करते हैं। इस 'रामायण' के अनुसार रावण का मर्मस्थान उसका अंगुठा बताया गया है। इसमें लव-कुश के जन्म का प्रसंग भी सीता-त्याग के पूर्व ही ला दिया गया है।

खोतानी रामायण

खोतानी रामायण का समय ईसा की नवीं शताब्दी समझा जाता है और इसकी राम-कथा तिब्बती रामायण से बहुत कुछ साम्य रखती है।

इसमें भी राम तथा लक्ष्मण का ही उल्लेख है और सीता यहाँ पर भी दशग्रीव की पुत्री मानी गयी है। इसके सिवाय उपर्युक्त जटायु वाला प्रसंग, पूंछ में दर्पण बाँधने की कथा तथा रावण के मर्मस्थल की बात भी दोनों में प्रायः एक सामान है। किंतु इसकी विशेपताएँ भी अनेक हैं। सर्वप्रथम इसका आरंभ ही महात्मा बुद्ध की आत्माकथा के रूप में तथा जातकों की शैली के अनुसार होता है, और अंत में, बौद्ध धर्म के अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों के साथ रामकथा के पात्रों की अभिन्नता-सी दिखलायी जाती है। रामकथा के समय बुद्ध राम थे और मैत्रेय लक्ष्मण। इसमें आहत रावण का बध भी नहीं किया जाता और राम की चिकित्सा के लिए प्रसिद्ध बौद्ध वैद्य जीवक बुलाया जाता है। वहाँ पर दशरथ का पुत्र सहस्रबाहु जान पड़ता है, जिसके दो पुत्र, राम एवं लक्ष्मण होते हैं। उन्हें उनकी माता बारह वर्षों तक पृथ्वी मे छिपाये रखती है। अपने पिता की धेनु चुराने पर जब परशुराम सहस्रबाहु का वध करते हैं, तो उसके बदले में राम भी पृथ्वी से आकर परशुराम को मार डालते हैं। इसकी राम-कथा के अनुसार राम और लक्ष्मण दोनों वनवास करते हैं। दोनों ही सीता के साथ विवाह भी करते हैं। दोनों भाइयों के वनवास का कोई कारण दिया गया नहीं दीख पड़ता। उनका सीता के साथ विवाह कर लेना भी कदाचित् उधर की प्रचलित बहुपतित्व की प्रथा के अनुसार है।

भारत का संबंध हिंदचीन के साथ भी संभवतः ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी से ही स्थापित हो गया था। चंपा राज्य के सातवीं शताब्दी वाले शिला-लेखों से पता चलता है कि 'वाल्मीकि रामायण' का प्रचार वहाँ पर पूर्णरूप में हो चुका था। उस काल के एक मंदिर में वाल्मीकि की मूर्ति भी मिलती है। इसी प्रकार कम्बोडिया की प्राचीन राजधानी अंगकोरवाट के एक विशाल मंदिर में रामायण आदि ग्रंथो की कथा के कई पाषाण चित्र भी अंकित हैं। कंबोडिया की भाषा ख्मेर में 'रेआम-केर' (रामकीर्ति) नाम की एक रामायण मिलती है, जिसका रचनाकाल

विदित नहीं है। इस रामायण की सीता जनक की दत्तक पुत्री है। इसकी कथा का आरंभ, विश्वामित्र के यज्ञ के किसी काक-रूपधारी असुर द्वारा भंग किये जाने के प्रयत्न से होता है। जनक सीता को यमुना नदी के किनारे हल चलाते समय किसी बेड़े पर देखते हैं और उसे लेकर अपनी पुत्री बना लेते हैं। सीता-हरण के समय रावण जटायु को सीता की अंगूठी से घायल करता है। सेतुबंध के समय मछलियाँ बाधा डालतीं हैं। सीता-त्याग का कारण कोई रावण का चित्र बना जाता है, जिसे सीता ने अपने पखे पर उतार रखा था। जब अयोध्या लौटना अस्वीकार करती हुई, वह कहती है कि मैं राम की अंत्येष्टि क्रिया के ही समय जा सकती हूँ तो राम उसे हनुमान द्वारा अपनी मृत्यु की सूचना भेजते हैं और वह उनकी चिता पर विलाप करती मूर्छित हो जाती है। तब राम उसे अपनी गोद में उठा कर उसके आँसू पोछने लगते हैं। वह सचेत होकर उसकी भर्त्सना करती हुई नागराज मिरुण की शरण में चली जाती है। हिंदचीन के ही 'अनाम' प्रदेश में उपलब्ध अठारहवीं शताब्दी की एक रामायण से पता चलता है कि यह भी वाल्मीकीय रामायण पर आश्रित है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें दशानन का राज्य 'अनाम' के ही दक्षिण भाग में माना गया है और दशरथ का राज्य उसके उत्तरी भाग में। दशरथ के उस राज्य पर आक्रमण करके ही रावण सीता का हरण करता है तथा अपनी सेना के साथ अपने राज्य में लौटता है।

स्याम की रामायण

स्याम की रामायण 'रामकियेन' अठारहवीं शताब्दी उत्तरार्ध के दो भिन्न-भिन्न संस्करणों में प्रकाशित हो चुकी है। इसे लोग बहुत कुछ उक्त 'रेआमकेर' पर ही आधारित बताते हैं। यह भी कहा जाता है कि इसका एक तीसरा संस्करण पीछे नाटक में भी प्रकाशित किया गया है। 'रामकियेन' की भी कई अपनी विशेषताएँ हैं, जिसके अनुसार लक्ष्मण

सूर्पणखा के किसी पुत्र का बध करते हैं और लक्ष्मण तथा हनुमान का एक युद्ध होता है। सेतुबंध के पूर्व स्वयं रावण तपस्वी बन कर राम के निकट जाता है और उनसे युद्ध न करने का अनुरोध करता है। विभीषण की पुत्री 'वेंजकाय' सीता के रूप में मृतवत् होकर नदी में बहती दीख पड़ती है। महीरावण राम को पाताल ले जाता है। रावण ब्रह्मा के निकट जाकर राम पर अभियोग करता है, किंतु राम और सीता को बुला कर जब वे सीता के लौटा देने का निर्णय सुनाते हैं, तो वह इसे नहीं मानता और ब्रह्मा उसे शाप देते हैं। रावण बध के अनंतर उसका एक पुत्र, राम के अयोध्या लौट जाने पर, विभीषण के विरुद्ध विद्रोह करता है और उसे लंका जाकर भरत और शत्रुघ्न पराजित करते हैं। किंतु सबसे विचित्र बात इस ग्रंथ में यह दीख पड़ती है कि हनुमान यहाँ प्रेम-लीलाओं में भी निरत रहते हैं। अन्य अनेक स्त्रियों के अतिरिक्त वे मंदोदरी तक का आलिंगन करते हैं। एक दिन स्वयं राम की भर्त्सना करते तथा उनसे युद्ध तक ठान देते हैं। 'राम कियेन' के साथ ही स्याम देश की लाओ भाषा में रचा गया सोलहवीं शताब्दी का 'रामजातक' भी प्रसिद्ध है। इस रामायण के आरंभ में ही राम और रावण आपस में चचेरे भाई माने गये हैं तथा राम के केवल एक ही भाई लक्ष्मण और एक बहन शांता के नाम आये हैं। 'रामजातक' के अनुसार राम ने सीता की खोज करते समय दो विवाह भी कर लिये थे, जिनमें से एक सुग्रीव वालि की बहन से था और दूसरा वालि की विधवा से। राम की इन दोनों पत्नियों ने अपने पुत्रों, हनुमान तथा ख्वान थोआका, के साथ युद्ध में भाग लिया था। राम ने सीता से पहले भी कई विवाह किये थे। इन दोनों ही रामायणों पर बौद्ध धर्म का न्यूनाधिक प्रभाव स्पष्ट है और ये अपेक्षा कृत आधुनिक भी कही जा सकती हैं। कहते हैं कि स्याम देश में अयोध्या से ही आर्य सभ्यता पहले पहल प्रचारित हुई थी। इसी कारण, वहाँ सर्व प्रथम 'वाल्मीकीय रामायण' की ही मूल कथा गयी थी। किंतु स्याम की वह प्राचीन रामायण आज उपलब्ध नहीं है और न

'वापाली' भापा मे, जिसमें वह लिखी गयी थी, इस विषय का कोई अन्य ग्रंथ ही है।

ब्रह्मदेश में

ब्रह्मदेश की रामायणी कथा वहाँ पर 'रामयत' के नाम से प्रसिद्ध है और उसके रावण का नाम भी 'दशगिरि' बताया जाता है। इस नाम का कारण यह दिया जाता है कि रावण का राजमुकुट दस अंगों से समन्वित था। ब्रह्मदेश में गमकथा-साहित्य का प्रचार अधिकतर अठारहवीं शताब्दी से होने लगा, जब से श्याम देश से लाये गये, राम नाटक के कई अभिनेता वंदियों ने वहाँ राम-कथा का अभिनय आरंभ किया। इसी समय सन् १८०० ई० के आस-पास वहाँ के कवि यूतों ने 'रामयागन' काव्य की रचना की, जो संभवतः उस देश की ऐसी सबसे महत्वपूर्ण कृति है। राम नाटक को यहाँ के लोग आज कल 'यामप्वे' कहते हैं। इसका अभिनय करते समय बहुमूल्य चेहरे पहनते तथा उनकी पूजा भी करते हैं। नाटक के कथानक में 'रामकियेन' की राम-कथा से अधिक अतर नहीं है। फिर भी, सीताहरण वहाँ के अभिनय का एक बहुत प्रिय विषय है। इसकी शूर्पणखा का नाम गांबी है, जो मृग का रूप धारण करके राम को दूर तक बहका ले जाती है और अंत में आहत होकर अपना राक्षसी रूप प्रकट करती है।

इडोनेशिया में राम-कथा के दो भिन्न रूप मिलते हैं, जिनमें से एक वाल्मीकीय रामायण के कथानक से अधिक निकट है। उसकी रचना भी शैवो द्वारा हुई थी, किंतु दूसरी में उससे बहुत कुछ भिन्नता है और वह पहली की अपेक्षा अर्वाचीन भी कही जा सकती है। कहते है कि यव द्वीप में रामायण का अनुवाद सर्वप्रथम, ईसा की पाँचवी शताब्दी में हुआ था और उसमें उत्तरकाड का समावेश नहीं किया गया था। इस कारण, अनेक विद्वानों की यह भी धारणा हुई है कि भारतीय रामायण में कदाचित् पहले उत्तरकांड नहीं रहा होगा और वह उसमें कहीं पीछे जोड़ा गया होगा। यव द्वीप के रामायण काव्य का नाम रामकवि है, जिसकी

रचना चार अध्यायों में की गयी है। पहले अध्याय अर्थात् 'रामगुनद्र ग' में रामयण के प्रथम कांड की कथा आती है और दूसरे में बनवास से लेकर राहवन अर्थात् रावण द्वारा किये गये सीता-हरण तक के प्रसंग हैं। इसी प्रकार, तीसरे में हनुमान का आलंका अर्थात् स्वर्णमयी लंका तक जाने और फिर आगे सेतुबंध तक की कथा दी गयी है। अंतिम अध्याय में राम-रावण-युद्ध, सीति अर्थात् सीता का उद्धार, 'देवविपण' अर्थात् विभीषण की राज्य प्राप्ति तथा रामादि का 'नामूद्या' अर्थात् अयोध्या में वापस आना जैसी बातें आती हैं, जिनकी चर्चा 'रामायण' के युद्ध काड तक में ही की गयी मिलती है। यव द्वीप के काव्य साहित्य में एक प्राचीन ग्रंथ 'कांड' नाम का भी मिलता है जिसमें सृष्टि प्रकरण के अतिरिक्त रामायण और महाभारत की कथा भी आ जाती है। इसके सिवाय राम-कथा के विवरण वहाँ के उन दो शिव-मंदिरों में भी पाये जाते हैं, जिनमें पाषाण चित्रलिपि खुदी हुई है। इनका निर्माण-काल नवीं शताब्दी है।

मध्य जावा में

मध्य जावा के 'परमवन' अर्थात् परमब्रह्म नामक स्थान पर जो चित्र-लिपि शिवमंदिर में हैं वह उसकी चारों ओर ऊँची दीवारों पर खुदी हुई है। इसकी कथा और 'रामायण' के कथानक में जो भिन्नता पायी जाती है, उसके अनुसार जटायु ने राम को सीता की अंगूठी दी थी। मछलियों ने सेतुबंध के समय उसे नष्ट करने का प्रयत्न किया था तथा लक्ष्मण के तरकश में सुग्रीव के आसुओं का पानी जमा हो गया था, जिससे उसका पता लगाया जा सका, आदि कुछ प्रसंग हैं, जो विशेषतया वहाँ की कई अर्वाचीन रामायणों में भी पाये जाते हैं। वहाँ की प्राचीनतम राम-संबंधी साहित्यिक रचना बारहवीं शताब्दी के किसी योगीश्वर कवि कृत 'रामायण काकाविन' है जिसके डच अनुवाद से पता चलता है कि वह अधिकतर 'भट्टिकाव्य' पर आश्रित है। उसके प्रारंभिक बारह सर्गों का विभाजन लगभग ठीक उसी के अनुसार हुआ है। योगीश्वर ने युद्ध कांड की कथा

का विस्तार 'भट्टिकाव्य' से भी अधिक किया है। 'रामायण काकाविन' की सीता ने हनुमान को अपने चूड़ामणि के अतिरिक्त एक पत्र भी दिया है। उसकी शबरी राम से अपनी कथा सुनाती हुई यह भी कहती है कि विष्णु ने अपने वराहावतार में मेरी माला खायी थी और मर गये थे, जिस पर मैंने उनकी लाश खा ली और मेरा मुख काला हो गया। वह राम से अनुरोध भी करती है कि मेरा मुख पोंछ कर उसे शुद्ध कर दीजिये। इसके अतिरिक्त इस काव्य ग्रंथ में इंद्रजित की सात पत्नियों की चर्चा की गयी मिलती है, जो अपने पति के साथ ही युद्ध करती हैं और मारी जाती हैं। जावा में एक प्राचीन, 'उत्तरकांड' भी पाया जाता है। इसमें रामायण की कथा गद्य द्वारा कही गयी है और एक 'चरित रामायण' अथवा 'कावी जानकी' का भी पता चलता है, जिसके १०१ पदों द्वारा 'रामायण' के प्रथम छह्र काण्डों की कथा व्याकरण के उदाहरणों के साथ दी गयी है।

बाली द्वीप में

बाली द्वीप की रामायण स्वयं वाल्मीकि मुनि की ही कृति मानी जाती है, किंतु उसकी रचना वहीं की भाषा में हुई है। यह रामायण छह कांडों एवं पच्चीस सर्गों में विभक्त है और इसमें भी उत्तरकांड नहीं है और वह एक पृथक ग्रंथ के रूप में मिलता है। इस रामायण की एक विशेषता यह है कि इसमें राम की मृत्यु का वर्णन करके उसके अनंतर उनके वंशजों का भी वृत्त दिया गया है। राम को इस काव्य के रचयिता ने, अपनी वृद्धावस्था मे, वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करने वाला दिखलाया है। इसकी भाषा में संस्कृत शब्द भी मिलते हैं। बाली के काव्य-साहित्य में एक दूसरी रामायण भी मिलती है, जो राजा कुसुम की रचना है और जिसका इस समय बहुत अधिक प्रचार है।

इंडोनेशिया की अर्वाचीन राम-कथा अधिकतर नाटकों के रूप में पायी जाती है और वही हिंदचीन, स्याम और ब्रह्मदेश में भी प्रचलित है। यव द्वीप में इस परंपरा के सबसे उल्लेखनीय उदाहरण वहाँ की

'सेरतकांड' और 'राम केलिंग' नामक रचनाओं में पाये जाते हैं। 'सेरत-काड' की प्रारंभिक कथा में नबी अदम की कथा की एक विस्तृत भूमिका मिलती है, जिसमें जावा के प्राचीन राजवंशों की एक सूची भी दी गयी है। उस वशावली के भीतर भारतीय पुराणों के अनेक देवताओं की कथा भी संमिलित है। इसमें रावण द्वारा विष्णु के पराजित होने तथा फिर उनके विभिन्न अवतारों के साथ उसके बार-बार युद्ध करने की कथा आती है। विष्णु, वासुकी और श्री 'लक्ष्मी' के साथ रावण के भय से भाग कर, दशरथ के यहाँ आ जाते हैं और प्रथम दो उनके पुत्र बन जाते हैं तथा श्री अपने को एक अंडे के रूप में परिणित कर लेती है, जिसे रावण खा लेता है और उसके फलस्वरूप वह मंदोदरी के गर्भ से सीता बन कर प्रकट होती है। राम-कथा के अंत में यह भी कहा गया है कि सीता का एक मात्र पुत्र 'बुतलव' नाम का था, जिसे राम ने अपना राज्य भार सौंप दिया। किसी अनल नामक वानर के अपने को अग्नि रूप में परिणत कर लेने पर उसमें वे सीता, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव आदि के साथ भस्मीभूत हो गये, केवल हनुमान बच सके। यव द्वीप के 'रामकेलिंग' ग्रंथ की कथा इससे कुछ भिन्न है और वह बहुत कुछ मलय द्वीप के 'हिकायत सेरीराम' की कथा से मिलती है।

मलय द्वीप की अर्वाचीन रचना 'हिकायत सेरीराम' की प्राचीनतम हस्तलिपि का काल सन् १६३३ ई० बताया जाता है। इस पुस्तक के अंतर्गत रावण चरित्र से लेकर सीता-त्याग और राम सीता के पुनर्मिलन तक की कथा आती है। इसमें रावण अपने पिता द्वारा निर्वासित होकर सिंहल द्वीप जाता है और वहाँ पर तपस्या करके अल्लाह को प्रसन्न करता तथा उनसे चार लोकों में से एक पर अपना अधिकार प्राप्त कर लेता है और उसी में अपनी सुंदर लंकापुरी का निर्माण करता है। इस रचना में भी सीता का जन्म मंदोदरी के ही गर्भ से बताया गया है और वह यहाँ पर अपने अशुभ द्योतक जन्मपत्र के कारण समुद्र में फेंक दी जाती है। राम का बनवास यहाँ पर दशरथ की पत्नी बलियादरी के अनुरोध पर होता है

और यहाँ पर भी राम बड़ी प्रसन्नता के साथ गृह-त्याग करते हैं। अंजनी इस रचना के अंतर्गत गौतम की पुत्री ठहरायी गयी है और बालि तथा सुग्रीव उसके सहोदर भाई जान पड़ते हैं। हनुमान का जन्म उसके गर्भ से स्वयं राम के वीर्य द्वारा होता है। मितानी राम-कथा में 'सेरीराम' के अनेक पात्रों का एकीकरण महासिकुल नामक एक तपस्वी में हो गया प्रतीत होता है। इसके प्रारंभिक भाग में उनकी पत्नी को चार संतानों अर्थात् एक पुत्री, बालि, सुग्रीव तथा विलो की चर्चा की गयी है। किंतु इसके दूसरे भाग में उन्हीं की दत्तक पुत्री मंदुदकी की भी कथा आती है, जो रावण के साथ विवाह करती है और जिसके गर्भ से सीता की उत्पत्ति होती है। सीता के त्यक्त हो जाने पर महासिकुल उसे अपनी पुत्री के रूप में ग्रहण कर लेते हैं। अपने दत्तक पुत्र 'सेरावी नायकेल' अर्थात् राम के उस पर अनुरक्त होने पर, उसके कारण इस पुत्र को अपने घर से निर्वासित कर देते हैं। मितानी कथा में केवल रावण-बध के ही प्रसंग आते हैं।

सिंहल, देश में कोई 'कोहोंबा यक्कम' नाम की एक धार्मिक विधि प्रचलित है, जिसको संपन्न करते समय कतिपय काव्यात्मक कथाओं का पाठ होता है और उसमें सिंहल के प्रथम राजा विजय तथा नागकुमारी कुवेणी की और सीता-त्याग की कथा की प्रधानता है। इस कथा के अनुसार बालि ही लंका-दहन करके सीता को राम के निकट पहुँचा देता है। सीता का त्याग यहाँ पर रावण के चित्र के कारण होता है। वाल्मीकि सीता के लिए बालकों की सृष्टि करते हैं और यह दोनों सीता के एक अन्य पुत्र को लेकर राम की सेना के साथ युद्ध करते हैं। सीता के उन दो पुत्रों में से प्रथम को वाल्मीकि ने कमल से बनाया था और दूसरे की सृष्टि कुश के द्वारा की थी।

इस्लाम धर्म के प्रचलित हो जाने पर पश्चिम के अरब आदि देशों का अभ्युदय काल आरंभ हो गया और उनका भारत से संबंध बढ़ा। फलतः बग़दाद के शासक हारूँ उल रशीद ने चिकित्सा ग्रंथों के साथ

साथ रामायण, महाभारत आदि के भी अनुवाद कराये। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध विद्वान अलबेरूनी ने अपनी भारत-यात्रा का विवरण देते समय अपनी पुस्तक में राम-कथा की भी चर्चा की। उसने कोई विस्तृत सुशृंखलित कथा नहीं दी, किंतु प्रसंगवश उसके अनेक अंशों का उल्लेख मात्र कर दिया। अलबेरूनी ने लंका का वर्णन करते समय बताया है, जब रावण दशरथ के पुत्र राम की पत्नी को हर ले गया, तो इस स्थान पर उसने एक दुर्ग का निर्माण किया। राम ने किष्किंद के वानरों के साथ मैत्री करके रावण पर चढ़ाई की। समुद्र को सतुबंध की सहायता से पार किया, जो सीलोन के पूरब १०० योजन का था। सेतुबंध को राम ने फिर दस जगह अपने बाणों द्वारा तोड़ दिया और अपनी राजधानी लौट आये। राम के राज में कोई पुत्र अपने पिता के जीवन-काल में नहीं मरता था और यदि मर भी जाता था तो उसका कारण राज्य में होने वाले किसी अधर्म का सूचक समझा जाता था, आदि। प्राचीन ईरान के 'जेद अवेस्ता' में 'रामहु वास्त्र' शब्द आता है और एक असीरियन देवता का भी नाम 'रम्मन' वा 'रमानु' मिलता है, जो हिब्रू भाषा के 'रिमोन' के समान है। यहूदियों के नवें अवतार लामश 'रामः' और ईरानियों के अखामनी सम्राट अरियरम्म 'आर्य राम' के नाम भी राम शब्द से मिलते-जुलते हैं। किंतु उनका संबध किसी राम-कथा से नहीं हैं। मितन्नियो का 'दशरथ' भी एक वैसा ही शब्द है।

अरब आदि देशों के और भी पश्चिम की ओर, यूरोप के विविध देशों मे भी राम-कथा का कोई न कोई रूप वहाँ के साहित्यो में मिलता है। यूरोप में राम-कथा का प्रचार 'रामायण' जैसे ग्रथों के अनुवादो द्वारा हुआ है। इन अनुवादों में से कई एक के प्रणेता उधर के ईसाई मिशनरी थे और वहाँ के कतिपय ऐसे विद्वान भी थे, जिन्हें प्राच्य-विद्या विपयक जिज्ञासा ने इस कार्य की ओर प्रेरित और प्रवृत्त किया। जहाँ तक पता चलता है, किसी जेसुइट मिशनरी जे० फेनिचियो ने सन् १६०९ ई० में रचित अपनी 'लिब्रो डा सैटा' में दशावतारों का निरूपण करते समय,

राम-कथा का भी वर्णन किया और दशरथ के यज्ञ से लेकर सीता की अग्नि परीक्षा तक के वृत्तांत को उसमें स्थान दिया। कहते हैं कि उसकी हस्तलिपि का कुछ अंश खो जाने के कारण वहाँ पर पूरी राम-कथा नहीं दीखती, किंतु जो कुछ है, वह 'रामायण' पर निर्भर जान पड़ती है। यदि उसमें कुछ अंतर भी है, तो वह रावण चरित का आरण्य कांड की कथा में रखने तथा अग्निजा सीता के वृत्तांत और राम के स्वेच्छापूर्वक वन-गमन में हो सकता है। इसी प्रकार डच ईस्ट कंपनी के पादरी ए० रोजेरियस की रचना 'दि ओपेन रोरे' सन् १६५१ ईसवी के अवतार-वर्णन में भी 'रामायण' पर आश्रित राम-कथा का ही विवरण रावण-चरित से लेकर रामादि के अयोध्या प्रत्यागमन तक, मिलता है। जे० वी० टावर्निये नाम के प्रसिद्ध यात्री ने भी अपने भ्रमण-वृत्तांत सन् १६७६ ईसवी में राम कथा का एक संक्षिप्त रूप फ्रेंच भाषा में दिया है। पेरिस से सन् १७८२ ईसवी में प्रकाशित एम० सोनेरा की पुस्तक 'वोयाज़ ओस इंड ओरियंटाल' की संक्षिप्त राम-कथा की एक विशेषता यह है कि राम १५ वर्ष की अवस्था में तपस्या करने, अयोध्या छोड़ कर लक्ष्मण और सीता के साथ चित्रकूट में चले जाते हैं। पेरिस से ही सन् १८०६ ईसवी में प्रकाशित 'मिथोलॉजी डेस इंडू' नामक डे पोलिये की रचना में भी एक विस्तृत रामचरित मिलता है, जो 'रामायण' से सर्वथा भिन्न आधार पर निर्मित समझा जाता है। इसकी विशेषताओं में रक्तजा सीता की जन्म-कथा तथा महिरावण द्वारा राम और लक्ष्मण को पाताल ले जाने की कथा आदि है।

सन् १८२६ ईसवी में वान श्लेगेल ने, 'रामायण' के काशी संस्करण वाले पाठ का अनुसरण करते हुए, उसके संपूर्ण बालकांड और अयोध्याकांड के कुछ अंशों का अनुवाद लैटिन भाषा में किया था। इसी प्रकार, सन् १८४० ईसवी इटली निवासी सिंगनर गोरेसिउ ने भी 'रामायण' के वंगीय सस्करण का इटालियन अनुवाद, पूरे मूल संस्कृत के साथ प्रकाशित किया तथा इस कार्य में उसे बीस वर्ष लग गये। अंग्रेजी में रामायण का अनुवाद, सर्वप्रथम, कदाचित् श्रीरामपुर के मिशनरी विलियम

केटी द्वारा सन् १८०६ ईसवी में आरंभ हुआ था। फिर मार्शमैन, ग्रिफिथ, ह्वीलर आदि अनेक मिशनरियों और विद्वानों ने इसको अंग्रेजों में रूपांतरित कर प्रकाशित किया था। इन अंग्रेजी लेखकों के कारण राम-कथा के आलोचनात्मक अध्ययन की भी एक परंपरा निकली और कुछ जर्मन विद्वानों का भी समर्थन पाकर यह एक अत्यन्त मनोरंजक विषय बन गया। 'रामायण' जैसे ग्रंथों के अनुवादों के साथ-साथ पांडित्यपूर्ण भूमिकाएँ भी प्रकाशित होने लगीं। प्राच्य विद्या विषयक आलोचनात्मक निबंध प्रकाशित करने वाले यूरोप, अमेरिका और भारत के विभिन्न पत्रों में तुलनात्मक अध्ययन विचार-विमर्श होने लगा। फलतः इस समय राम-कथा का परिचय न केवल उसके विविध रूपों के विवरणों द्वारा ही दिया जा रहा है, अपितु आधुनिक विद्वानों का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट रहता है कि उसके मूल रूप की उत्पत्ति और क्रमिक विकास की कहानी भी प्रकाशित की जाये।

इधर भारत के स्वतंत्र हो जाने पर इसका संपर्क अन्य देशों के साथ और भी अधिक बढ़ता जा रहा है और विदेशों मे इसकी कला, संस्कृति और साहित्य की अच्छी जानकारी के लिये वहाँ के लोगों की जिज्ञासा में वैसी ही वृद्धि दीख पड़ती है। कई समृद्ध देशो के शिक्षा केंद्रो में उनका अध्ययन करने के लिए विशेष प्रबंध किया गया है और यहाँ के महत्व पूर्ण ग्रंथों का अनुवाद भी किया जाता है। रूस देश के एक प्रसिद्ध विद्वान वरान्नीकोव ने, अभी कुछ ही दिन हुए तुलसीदास के 'रामचरित मानस' ग्रंथ अपनी भाषा में अनुवाद कर उसे एक विद्वतापूर्ण भूमिका के साथ प्रकाशित किया है, जिसका अंग्रेजी और हिंदी अनुवाद भी हो गया है। राम-कथा का तुलनात्मक अध्ययन होमर के 'इलियड' जैसे काव्य ग्रंथों के कथानकों के साथ भी कतिपय यूरोपीय विद्वानों ने लिया है और दोनो के मूल स्रोत की भी खोज की है। किंतु इस संबंध में अभी तक जो काम हुआ है, वह पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। डा० कामिल बुल्के ने 'राम-कथा' का विस्तृत और गंभीर अध्ययन कर जो इस नाम से अपनी थीसिस प्रकाशित की है, वह एक सुंदर प्रयास है और भावी खोजियों के लिए उपादेय भी है।

विदेशों में वैष्णवधर्म

पश्चिम एवं उत्तर-भारत में उदय लेकर वैष्णवधर्म दक्षिण भारत की ओर गया और पूर्व तथा उत्तरपूर्व तक भी क्रमशः फैला। फिर तो देश के एक भाग के प्रचारक इसके दूसरे भागों में भी पहुँचने लगे और विचारों का पारस्परिक आदान-प्रदान होने लगा। इसके भिन्न-भिन्न संप्रदायों ने इसके प्रचारार्थ न केवल अपने प्रवर्त्तन-क्षेत्रों तक आंदोलन किया, अपितु उन्होंने अपने उपदेशकों द्वारा इसे अन्य स्थानों तक भी पहुँचाया। इस प्रकार यह धर्म प्रायः सारे भारत में व्याप्त हो चला। देश के जितने प्रमुख नगर तथा धार्मिक क्षेत्र थे वहाँ इन सभी ने अपने-अपने प्रयत्न किये, जिस कारण एक ही स्थान पर बहुधा एक से अधिक संप्रदायों के मठादि स्थापित हो गये और कभी-कभी उनमें आपस की होड़ तक चलने लगी। इसके सिवाय अपने-अपने संप्रदायों को अधिक आकर्षक एवं लोकप्रिय बनाने के लिए उन्हें कतिपय स्थानीय विशेषताओं को भी अपनाना पड़ा और इस धर्म के बाह्यरूप में अनेक अनावश्यक बातों का भी समावेश हो गया। जन-समाज के एक विशाल भाग में प्रवेश पाकर यह, क्रमशः, एक प्रकार की संस्कृति का रूप ग्रहण करने लगा। इसकी अनेक बातें, किसी सांप्रदायिक मनोवृत्ति से रहित व्यक्ति पर भी, कुछ न कुछ प्रभाव डालने लगीं। फलतः इस धर्म का प्रचार धीरे-धीरे उन सुदूर देशों तक में भी हो गया जहाँ पर इसके किसी सुसंगठित प्रचारक दल की कदाचित् कभी पहुँच भी न हुई होगी।

इस भक्तिपरक धर्म का भारत में विशेष प्रचार देख कर तथा कुछ साम्य के भी आधार पर कतिपय विद्वानों ने अनुमान किया है कि यह मूलतः ईसाई धर्म की देन है और इसका एक महत्वपूर्ण अंश उक्त मत के आदर्श पर ही निर्मित हुआ है। एक यूरोपीय ईसाई लेखक ने बत-

लाया है कि इस धर्म के उपास्यदेव कृष्ण का नाम तक ईसा मसीह नाम क्राइस्ट का एक रूपांतर मात्र है। इसी प्रकार सर विलियम जों नामक प्रसिद्ध विद्वान ने भी कहा था कि ईसाईधर्म के बहुत से गौण ए कल्पित उपदेश किसी समय भारत में लाये गये थे जिन्हें श्रवण कर यह के हिंदुओं ने उन्हें केशव-संबंधी कृत्रिम कहानियों में संमिलि कर लिया था। जर्मन विद्वान डा० वेबर की भी धारणा है कि कृष्ण को ईश्वरत्व प्रदान करने तथा उनके जन्म-दिवस के उपलक्ष में उत्स मनाने की प्रचलित परंपरा ईसाईधर्म के अनुकरण में ही हुई है औ ये सभी बातें बहुत पीछे कल्पित की गयी हैं। महाभारत में आयी हुई श्वे द्वीप की चर्चा तथा नारायण द्वारा नारद के प्रति किये गये वहाँ के उ देशों को उन्होंने इसके समर्थन में दिया है। श्वेतद्वीप, उनके अनुसा श्वेतांगो अर्थात् योरप निवासियों का ही देश कहा जा सकता है क्यों 'द्वीप' शब्द का प्रयोग, यहाँ पर, भारतीयों की दृष्टि से योरप देश समुद्र पार-स्थित होने के कारण ही किया गया है।

परंतु वैष्णवधर्म के इतिहास पर विचार कर लेने से उक्त धारणा केवल भ्रमात्मक और निराधार सिद्ध होंगी। डा० वेबर का यह कह कि कृष्ण पहले एक महान पुरुष मात्र थे और उन्हें ईश्वर के रूप ईसा के अनंतर स्वीकार किया गया, इस प्रत्यक्ष प्रमाण के ऊपर केव पर्दा डालता हुआ प्रतीत होता है कि ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी के बेस नगर शिलालेख में कृष्ण को स्पष्ट रूप में 'देवदेव' कहा गया है औ उनके अनुयायी हेलियोदोरस की उपाधि 'भागवत' की दी गयी है। हेलियोदोरस ग्रीक राजा ऐंतियाक्लिद का राजदूत बन कर भारत में आ था और वैष्णव हो गया था। इस प्रकार न केवल कृष्ण को देवत्व प्रा होता है, अपितु भागवत धर्म का ईसू खीष्ट से कम से कम दो शताब्द

---

[1]रायचौधरी : अर्ली हिस्ट्री-ऑव् वैश्नविज़्म, पृ० ५६-६०

पहले प्रचारित रहना भी सिद्ध हो जाता है। घसुंडी का शिला-लेख तथा पतंजलि का 'महाभाष्य' भी इस बात का ही समर्थन करते हैं। 'वासुदेव' के 'विष्णु' का स्थान ग्रहण कर चुकने की चर्चा का 'तैत्तिरीय आरण्यक' में आ जाना इस बात को लगभग एक शताब्दी और भी खींच ले जाता है। किसी महापुरुष को क्रमशः देवत्व वा ईश्वरत्व का मिल जाना भी असंभव नहीं है। यह बात भी गौतम बुद्ध के जीवन से सिद्ध है। 'महाभारत' में आया हुआ श्वेतद्वीप संबधी प्रसंग भी योरप की ओर संकेत नहीं करता। इस प्रकार का द्वीप, संभवतः वैसा ही पौराणिक है जैसा 'क्षीरसागर' कहा जा सकता है और उसमें दिये गये उपदेश भी स्वयं नारायण के हैं, सर्वसाधारण के नहीं। 'श्वेतद्वीप' के निवासियों का जो विवरण 'महाभारत' में उपलब्ध है उससे पता चलता है कि 'उनके सिर छत्रों की भाँति हैं, उनके दातों की संख्या ६८ हैं, जिनमें ६० बड़े और ८ छोटे-छोटे हैं और उनकी अनेक जीभें हैं जिनसे वे सूर्य को चाटते हुए-से प्रतीत होते हैं।"[1] हम नहीं समझते कि कोई भी यूरोप निवासी अपना वा अपने पूर्वपुरुषों का ऐसा परिचय स्वीकार करेगा।

अतएव, संभव है कि उक्त प्रकार की अनेक समानताओं का आधार वैष्णव धर्म द्वारा ही ईसाई धर्म का प्रभावित होना हो। भारत में ईसाई धर्म का सर्वप्रथम प्रवेश सेंट टामस के आने के साथ ईसा की प्रथम शताब्दी में होता है। यद्यपि उसे प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विंसेंट स्मिथ कपोलकल्पित सा ही मानते हैं और इस प्रकार की घटना का तीसरी शताब्दी से पहले ले जाना नहीं चाहते।[2] गोपालकृष्ण की गाथा अथवा बालकृष्ण की पूजा के भारत में प्रवेश पाने के संबंध में यदि यह अनुमान किया जाय कि वह पश्चिमी भारत कहीं से आकर बसने वाली

---

[1] महाभारत, शांतिपर्व, १२।२२।११

[2] स्मिथ : 'अर्ली हिस्ट्री ग्रॅव् इंडिया', पृ० २२३-२२५

आभीर जाति की देन है। वह जाति संभवतः योरप की ओर से ही आयी हो तथा अपने साथ इन बातों को ईसाइयों के यहाँ से लाकर उसने प्रचार किया हो तो वह भी निराधार ही है। कम से कम उस जाति का इसे ईसाइयों से प्राप्त करना, इसलिए असिद्ध कहा जा सकता है कि आभीर जाति ईसा की प्रथम शताब्दी तक भारत में बस चुकी थी[1]। यदि तमिळ-परंपरा मे विश्वास किया गया तो वह ईसा से शताब्दियाँ पहले यहाँ आ चुकी थी। श्री वी० कनकसभाई का कहना है[2] कि आभीर लोग तमिळ प्रांत में 'अयर' कहे जाते हैं जो पांड्यवंश के साथ यहाँ ईसा से शताब्दी पूर्व आ चुके थे और जिनके जाति नाम 'अयर' की व्युत्पत्ति तमिळ, शब्द 'आ' (गौ) से बतलायी जाती है।

इस विषय के संबंध में एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि स्वयं ईसा के जीवन-काल मे भी बहुत से धार्मिक व्यक्ति अपने ललाट तथा शरीर के अन्य अंगों पर एक प्रकार का विचित्र चिह्न धारण करते थे, जो उनके यहाँ प्राचीन परंपरागत समझे जाते। इनकी आकृति वैष्णव धर्मानुसार स्वीकृत तिलकादि के अनुकरण मे बनी हुई जान पड़ती है। ऐसे ही चिह्नों में से एक के विषय में लिखते हुए श्री एस० एस० रामास्वामी अय्यर ने बतलाया है कि वह ललाट पर धारण किया जाता था। उसकी ओर 'बाइबिल' के अंतिम भाग 'रेवेलेशन' (२२-४) में किया गया कुछ संकेत भी जान पड़ता है।[3] उस अंश के भाष्यकारों का कथन है कि उक्त चिह्न का उल्लेख 'प्राचीन बाइबिल' के एक भाग ('एजकील' ६-४-६) मे भी हुआ है और साधारणतः

---

[1]भांडारकरः 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', पृ० १५

[2]कनकसभाईः तमील्स एटीन हंड्रेड इयर्स एगो, पृ० ५७

[3]"और वे लोग उसका प्रत्यक्ष दर्शन करेंगे तथारता उसकनाम उन लोगों के ललाटों पर बना रहा रहेगा"

का पाश्चात्य यात्रियों तथा मिशनरियों की भारत-संबंधी रचनाओं में कम से कम राम-कथा के विषय बहुत कुछ सामग्री मिलती है, जो फ्रेंच, डच, स्पेनिश, पोर्चुगीज तथा अंग्रेजी भाषाओं में लिखी गयी है और जो कुछ महत्वपूर्ण भी है।[1]

इसके सिवाय हमें इस बात के भी प्रमाण कम नहीं मिलते कि एशिया माइनर में ईसा के पहले से ही भारतीय धर्मों एव दर्शनों का प्रचार होने लगा था और सीरिया निवासी लेखक जैनब से पता चलता है कि अर्मेनिया देश में कृष्णोपासना, कम से कम ईसा के पहले दूसरी और तीसरी शताब्दियों से ही प्रचलित थी तथा बान झील के किनारे मंदिरो मे कृष्ण की बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ भी स्थापित थीं।[2] इन मंदिरों को पीछे ईसाइयों ने ही तुड़वाया था। जैनब के अनुसार ईसा की चौथी शताब्दी के प्रारभिक वर्षों में, वहाँ पर लगभग पॉच सहस्र कृष्णानुयायी वर्तमान थे। जान पड़ता है कि ईसाई धर्म पहले, वैष्णवधर्म द्वारा अधिक प्रभावित होने के ही कारण यहूदी धर्म की दृष्टि में 'विदेशीय' समझा जाने लगा था और उसका अधिक विरोध भी हुआ था। पीछे के ईसामतानुयायी लोगो में कुछ परिवर्तन हुआ। वे वैष्णवधर्म के विपक्षी तक बन बैठे, जैसा कि उपर्युक्त घटना के उल्लेख से जान पड़ता है।

सर विलियम जोंस का, इसी प्रकार, कहना है कि दक्षिणी अमेरिका के प्राचीन पेरूविया-निवासी अपने को सूर्यवंशी कहा करते थे, औरसूर्य की पूजा करते तथा अपने सर्वप्रसिद्ध 'रामसित्तोवा' नामक उत्सव को मनाया करते थे। पेरूविया के काव्य साहित्य पर भी 'रामायण' एवं 'महाभारत' की छाप लगी हुई बतलायी जाती है।[3] ब्राज़ील की एक

[1] बुल्के : 'राम-कथा', पृ० २४८-२४६

[2] शिशिरकुमार मित्र ... ऑव् इंडिया, पृ० १७४

[3] वही, पृ० १८२

संस्था ने इधर ऐसे कुछ कार्य आरंभ किये हैं जिनका स्पष्ट उद्देश्य संसार के आध्यात्मिक रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करना है। उसने विशेषकर भारत वैष्णवधर्म के विषय में अन्वेषण करना अभी कुछ दिनों से आरंभ किया है। इस संस्था की एक अंतरंग सभा का नाम 'तत्वचैतन्य' है जो चैतन्य-संप्रदाय की ओर अधिक ध्यान देती है और जिसके एक सदस्य ब्राज़ील के कौंसल-जेनरल (१९३० ई०) वेसेंटों एवलिनो भी थे। वे एक बड़े उत्साही वैष्णव थे और कहा करते थे कि केवल भारत ही ऐसा देश है जिसने भगवान को जाना है और भगवान को जानने के लिए, इसी कारण, भारतवर्ष का जानना परमावश्यक है। वे परमहंस रामकृष्ण के भी एक बहुत बड़े प्रशंसक थे।[1]

वैष्णवधर्म के प्रचार का प्रमाण यूरोप एवं अमेरिका से कहीं अधिक एशिया और इंदोनेसिया मे पाया जाता है। इंदोचीन देश के 'अन्नम्' प्रांत में जिसे पहले 'चंपा' कहा जाता था भारतीय संस्कृति ईसा की लगभग दूसरी शताब्दी मे पहुँची थी। यहाँ पर विष्णु के राम एवं कृष्ण नामक अवतारों की अनेक मूर्तियाँ पायी जाती हैं जिनमें कृष्ण के 'गोवर्धन धारण' एवं 'कंसवध' की घटनाओं वाली विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विष्णु को वहाँ उनके विभिन्न नामों जैसे 'गोविंद', 'नारायण', 'पुरुषोत्तम' तथा 'हरि' द्वारा अभिहित किया गया है और उनकी शक्ति, पद्मा अथवा लक्ष्मी भी कही गयी है। उनका वाहन गरुड़ भी वहाँ का एक पक्षी विशेष प्रसिद्ध है। संस्कृत भाषा एवं साहित्य वहाँ पर लोकप्रिय हो चले थे और शासन-कार्य तक पर उनका पूर्ण प्रभाव था। शैवधर्म एवं बौद्धधर्म का वहाँ विशेष प्रचार था। किंतु वैष्णवधर्म को वहाँ के कुछ शासकों ने यहाँ तक महत्व दिया था कि वे अपने को विष्णु का अवतार तक मानते थे।[2] चंपा राज्य के सातवीं शताब्दी के शिला-लेखों से पता चलता है कि वहाँ पर 'वाल्मीकि-

---

[1] शिशिर कुमार मित्र : दि विज़न ऑव् इंडिया, [2] वही पृ० १९९

उसे "टान" की संज्ञा दी जाती है जो वस्तुतः हिब्रू वर्णमाला के अंतिम अक्षर को कहते हैं। उसकी आकृति अंग्रेजी के उलट दिये गये अक्षर U (यू) के समान होती है जिसके साथ फिनीशियन T (टी क्रास सूली) का सादृश्य देखकर पीछे के ईसाइयों ने सूली (क्रास) को और भी अधिक महत्व दिया था। श्री अय्यर का कहना है कि वैष्णवों के ललाटों पर धारण किया जाने वाला तिलक भी अंग्रेजी 'यू' अक्षर की आकृति का होता है, उसमें केवल एक और भी लकीर बीच में खींच दी जाती है और वह चिह्न भगवान के नाम का सूचक होने के कारण तमिळ भाषा में 'नामम्' कहा जाता है।

श्री अय्यर ने वहाँ पर यह भी बतलाया है कि उक्त 'रेवेलेशन' का रचयिता जान उस धर्मोपदेशक जान से अभिन्न है जो ईसा के साथ 'अंतिम भोज' के अवसर पर विद्यमान था। इसने, पालिक्रेटिस के अनुसार 'पेटालोन' धारण किया था। यह 'पेटालोन' वास्तव में, तमिळ भाषा के 'पलालम्' शब्द का रूपांतर जान पड़ता है जिसका अर्थ 'ललाट पर धारण किया गया चिह्न' है। अनुमान होता है कि जिस 'नाम' के, भक्तों के ललाटो पर धारण करने की चर्चा रेवेलेशन के उपर्युक्त अंश में की गयी है, वह यही है। इसके सिवाय पुरातत्वविदों ने कुछ दिन हुए एक चित्र खोद कर निकाला है जो ईसा की दूसरी शताब्दी में निर्मित किया गया है और जो रोम के पापों के 'पुरातत्व-संग्रहालय' में सुरक्षित है। उस चित्र में 'अंतिम भोज' का ही दृश्य अंकित किया गया है, जिसमें धर्मोपदेशक जान ईसा के निकट बैठे हुए हैं और उनके ललाट पर 'पेटालोन' चिह्न वर्तमान है। इस चिह्न में वैष्णवों के तिलक वाली बीच की लकीर नहीं है जिसे 'ऊर्ध्वपूंड' कहा जाता है। इसी प्रकार का एक अन्य चित्र भी मिला है। इन दोनों चित्रों की प्रकाशित प्रतिकृतियों के पतों का परिचय भी श्री अय्यर ने दिया है। उनका यह भी कहना है कि दिद्रुई नामक फ्रेंच खोजी के कथनानुसार 'टान' वाले उपर्युक्त चिह्न को ईसाई लोग अपने द्वारों पर

भी अंकित किया करते थे, जो प्रथा यहाँ के वैष्णव भक्तों के यहाँ भी प्रचलित है। अतएव इन प्रमाणों के आधार पर श्री अय्यर इस परिणाम तक पहुँचे हैं कि "प्रश्न यहाँ पर केवल इतना ही नहीं है कि ईसाईधर्म ने वैष्णव धर्म को प्रभावित किया अथवा वैष्णवधर्म ने ही ईसाई धर्म पर अपना प्रभाव डाला। ईसाई धर्म स्वयं एक हिंदू संप्रदाय है और धर्मोपदेशक जान वैष्णव था।"[1] वे इसके पहले यह भी लिख चुके हैं कि फिलस्तीन को भारतीयों ने ही बसाया, ईसा तमिळ देशीय थे और उनका मत तमिळ का ही मत था।

श्री अय्यर का उपर्युक्त मत आज तक की स्वीकृत धारणाओं के बहुत-कुछ विरुद्ध जाता है और निःसंदेह साहसपूर्ण है। फिर भी इसके द्वारा इस अनुमान को पुष्टि अवश्य मिलती है कि यदि ईसाईधर्म एवं वैष्णवधर्म के बीच एक से दूसरे के प्रभावित होने की बात पर विचार किया जाय तो अधिक युक्तिसंगत कथन यही हो सकता है कि सर्वप्रथम वैष्णव धर्म का ही प्रभाव ईसाई धर्म पर पड़ा होगा। ऐसी घटना के कुछ पहले से ही वैष्णवधर्म का प्रचार भी पश्चिमी देशों में होता रहा होगा। उधर के आधुनिक विद्वानों की यह धारणा कि वैष्णव धर्म, संभवतः ईसाईधर्म के ही आदर्श पर प्रचलित हुआ था, नितांत निर्मूल है। उनके कथन में केवल इतना ही तथ्य हो सकता है कि ईसाईधर्म के यहाँ प्रचलित हो चुकने पर उसकी एकाध बातों का किसी प्रकार वैष्णव धर्म पर प्रभाव पड़ जाना भी असंभव नहीं कहा जा सकता। ईसा के जन्म के पहले से वैष्णवधर्म का प्रचार विदेशों में होने लगा था और वह अधिकतर कृष्णभक्ति विषयक था। राम-भक्ति अथवा राम-कथा का प्रचार अनुमानतः उस काल से होने लगा जब यहाँ पर स्वामी रामानंद के 'रामावत सम्प्रदाय' की स्थापना हो गयी। पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ

---

[1] एम० एस० रामास्वामी अय्यर : एपासल जांस वैष्णव नामम्, लीडर, इलाहाबाद, ३-२-४१

का पाश्चात्य यात्रियों तथा मिशनरियों की भारत-संबंधी रचनाओं में कम से कम राम-कथा के विषय बहुत कुछ सामग्री मिलती है, जो फ्रेंच, डच, स्पेनिश, पोर्चुगीज़ तथा अंग्रेजी भाषाओं में लिखी गयी है और जो कुछ महत्वपूर्ण भी है।[1]

इसके सिवाय हमें इस बात के भी प्रमाण कम नहीं मिलते कि एशिया माइनर मे ईसा के पहले से ही भारतीय धर्मों एव दर्शनो का प्रचार होने लगा था और सीरिया निवासी लेखक जैनब से पता चलता है कि अर्मेनिया देश में कृष्णोपासना, कम से कम ईसा के पहले दूसरी और तीसरी शताब्दियों से ही प्रचलित थी तथा वान झील के किनारे मंदिरो में कृष्ण की बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ भी स्थापित थीं।[2] इन मंदिरों को पीछे ईसाइयों ने ही तुड़वाया था। जैनब के अनुसार ईसा की चौथी शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में, वहाँ पर लगभग पाँच सहस्र कृष्णानुयायी वर्तमान थे। जान पड़ता है कि ईसाई धर्म पहले, वैष्णवधर्म द्वारा अधिक प्रभावित होने के ही कारण यहूदी धर्म की दृष्टि में 'विदेशीय' समझा जाने लगा था और उसका अधिक विरोध भी हुआ था। पीछे के ईसामतानुयायी लोगों में कुछ परिवर्तन हुआ। वे वैष्णवधर्म के विपक्षी तक बन बैठे, जैसा कि उपर्युक्त घटना के उल्लेख से जान पड़ता है।

सर विलियम जोंस का, इसी प्रकार, कहना है कि दक्षिणी अमेरिका के प्राचीन पेरूविया-निवासी अपने को सूर्यवंशी कहा करते थे, औरसूर्य की पूजा करते तथा अपने सर्वप्रसिद्ध 'रामसित्तोवा' नामक उत्सव को मनाया करते थे। पेरूविया के काव्य साहित्य पर भी 'रामायण' एवं 'महाभारत' की छाप लगी हुई बतलायी जाती है।[3] ब्राज़ील की एक

---

[1] बुल्के : 'राम-कथा', पृ० २४६-२४६

[2] शिशिरकुमार मित्र : दि विज़न ऑव् इंडिया, पृ० १७४

[3] वही, पृ० १८२

संस्था ने इधर ऐसे कुछ कार्य आरंभ किये हैं जिनका स्पष्ट उद्देश्य संसार के आध्यात्मिक रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करना है। उसने विशेषकर भारत वैष्णवधर्म के विषय में अन्वेषण करना अभी कुछ दिनों से आरंभ किया है। इस संस्था की एक अंतरंग सभा का नाम 'तत्व चैतन्य' है जो चैतन्य-संप्रदाय की ओर अधिक ध्यान देती है और जिसके एक सदस्य ब्राज़ील के कौंसल-जेनरल (१९३० ई०) वेसेंटों एवलिनो भी थे। वे एक बड़े उत्साही वैष्णव थे और कहा करते थे कि केवल भारत ही ऐसा देश है जिसने भगवान को जाना है और भगवान को जानने के लिए, इसी कारण, भारतवर्ष का जानना परमावश्यक है। वे परमहंस रामकृष्ण के भी एक बहुत बड़े प्रशंसक थे।[1]

वैष्णवधर्म के प्रचार का प्रमाण यूरोप एवं अमेरिका से कहीं अधिक एशिया और इंदोनेसिया में पाया जाता है। इदोचीन देश के 'अन्नम्' प्रांत में जिसे पहले 'चंपा' कहा जाता था भारतीय संस्कृति ईसा की लगभग दूसरी शताब्दी में पहुँची थी। यहाँ पर विष्णु के राम एवं कृष्ण नामक अवतारों की अनेक मूर्तियाँ पायी जाती हैं जिनमें कृष्ण के 'गोवर्धन धारण' एवं 'कंसवध' की घटनाओं वाली विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विष्णु को वहाँ उनके विभिन्न नामों जैसे 'गोविंद', 'नारायण', 'पुरुषोत्तम' तथा 'हरि' द्वारा अभिहित किया गया है और उनकी शक्ति, पद्मा अथवा लक्ष्मी भी कही गयी है। उनका वाहन गरुड़ भी वहाँ का एक पक्षी विशेष प्रसिद्ध है। संस्कृत भाषा एवं साहित्य वहाँ पर लोकप्रिय हो चले थे और शासन-कार्य तक पर उनका पूर्ण प्रभाव था। शैवधर्म एवं बौद्धधर्म का वहाँ विशेष प्रचार था। किंतु वैष्णवधर्म को वहाँ के कुछ शासकों ने यहाँ तक महत्त्व दिया था कि वे अपने को विष्णु का अवतार तक मानते थे।[2] चंपा राज्य के सातवीं शताब्दी के शिला-लेखों से पता चलता है कि वहाँ पर 'वाल्मीकि-

---

[1] शिशिर कुमार मित्र : दि विज़न ऑव् इंडिया, [2] वही पृ० ११९

रामायण' का बहुत प्रचार रहा होगा। राजा प्रकाशधर्म (सन् ६५३-७८ ईसवी) के समय के एक वाल्मीकि के मंदिर में महाकवि वाल्मीकि एक मूर्ति मिली है और उस मंदिर के एक शिला-लेख से पता चलता है कि वे विष्णु के एक अवतार की भाँति वहाँ पर पूजे जाते थे।[1] कम्बोदिया प्रांत की ख्मेर भाषा में वहाँ पर एक 'रामायण' की रचना भी हुई थी जिसका नाम 'रेआम-केर' वा 'रामकीर्त्ति' है और जिसकी कथा 'वाल्मीकि-रामायण' से मिलती-जुलती है। रामायण, महाभारत और कतिपय पुराणों द्वारा प्रभावित वैष्णव काव्यों की अधिकांश रचनाएँ ईसा की नवम एवं दशम शताब्दियो मे निर्मित हुई थीं। इस प्रसग में सूर्य वर्मा द्वितीय (सन् १११३-४५) जैसे अंगकोरवाट वाले मंदिर के निर्माता का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस मंदिर के प्रमुख अंश में रामायण, महाभारत एवं हरिवंश के विविध दृश्यों का सविवरण चित्रण बड़े कौशल के साथ दिया गया मिलता है। 'रेआम-केर' के आदर्शों पर ही निर्भर एक अन्य रामायण की रचना स्याम देश में हुई थी जिसका नाम 'राम कियेन' है। स्याम देश के उत्तरपूर्वीय प्रांतों में बोली जानेवाली लाओ भाषा में भी इसी प्रकार रामायण 'राम-जातक' के नाम से प्रसिद्ध है। उसकी रचना बौद्ध-जातकों के आदर्शों पर की गयी जान पड़ती है और जो वहाँ पर विशेष लोकप्रिय भी है। चौदहवीं शताब्दी के मध्यकाल मे सुमन मुनि अथवा ओटंग के राजा ने अजुथिआ (अयोध्या) नाम की अपनी राजधानी स्थापित की थी और उस समय से वह अपने को 'रामाधिमति' कह कर स्वतंत्र राज्य पर शासन करने लग गया था। ब्रह्मदेश के एक राजा स्याम देश पर सन् १७६७ ईसवी में चढ़ाई की जाने पर उसमें बहुत से लोग बंदी बन कर आये थे, जिनमें से कुछ राम-नाटक भी करते थे। उनके द्वारा ब्रह्मदेश में राम की कथा का इतना प्रचार हुआ। उसके आधार पर वहाँ के सबसे महत्व

---

[1] बुल्के: राम-कथा, पृ० २४०

पूर्ण काव्य 'रामयागन' की रचना हो गयी तथा उस देश की भाषा में 'यामप्ले' कहे जाने वाले राम-नाटकों का भी प्रचार हो गया। इन अभिनयों की विशेषता बहुमूल्य चेहरों में पाई जाती है।[1]

वैष्णवधर्म का प्रचार इंदोनेसिया में भी कम नहीं हुआ और जावा द्वीप में तो इसका प्रभाव विशेष रूप में पड़ा हुआ जान पड़ता है। वहाँ के काव्य, नाटक, संगीत एवं नृत्यकला तक पर यहाँ के 'महाभारत' एवं 'रामायण' की स्पष्ट छाप लक्षित होती है। वहाँ की मूर्तियाँ गरुड़ारूढ़ विष्णु भगवान तथा उनके अवतारों के विविध प्रतीकों द्वारा भी दिखायी देती है। मध्य जावा के 'परम् बनम्' नामक स्थान पर एक शिव-मंदिर नवीं शताब्दी का बना हुआ वर्तमान है, जिसकी ऊँची-ऊँची दीवारों पर चारों ओर 'रामायण' की सारी घटनाओं का चित्रण पाषाण चित्रलिपि में किया गया मिलता है। इसके सिवाय 'रामायण काकाविन' की प्राचीन परंपरा से कुछ भिन्न राम-कथा का एक रूप आधुनिक रामकथा-संबंधी नाटकों में पाया जाता है। जावा में विष्णु उनके मत्स्य, वराह नृसिंह, राम एवं कृष्ण अवतारों तथा उनकी शक्ति लक्ष्मी एवं वाहन गरुड़ की कलात्मक मूर्तियाँ मिलती है लक्ष्मी को चार भुजाओं में कमल, धान की बाली माला आदि निर्मित है। विष्णु भी अपने चार आयुधों वाले हैं। इसी प्रकार इंदोनेशिया के ही वाली द्वीप में भी वैष्णवधर्म के चिह्न कम नहीं मिलते। वहाँ पर विष्णु की स्तुति के लिए 'विष्णु पंजर' तथा 'विष्णु स्तव' नामक दो स्तोत्र प्रसिद्ध हैं, जिसमें से दूसरा सुदर गद्य में है। इन्हें वहाँ के 'पदंड' वा पंडित गाया करते हैं। बाली में विष्णु का कृष्णावतार विशेष लोकप्रिय है। इसी प्रकार मलयन राम-कथा की सर्वप्रसिद्ध रचना 'हिकायत सेरी राम' है जो जावा की 'रामेकेलिंग', 'सेरत कांड' आदि का भी आदर्श स्वरूप है।[2] परंतु इदोनेशिया की इस राम-कथा परंपरा से भी अधिक प्राचीन इसका वह क्रमागत रूप है, जो तिब्बत

---

[1] बुल्के : राम-कथा, पृ० २४१-९ [2] वही, पृ० २२१-२२२-२२५

एवं खोतान में उपलब्ध है। तिब्बत के बोनपा-धर्म में तो भारतीय वैष्णव प्रतीक गरुड़ को भी स्थान दिया गया है जिसकी आकृति में पायी जाती है।[1] राम-कथा चीन के एक लेखक चिचिआ-ये की भी रचना मे मिलती है, जो सन् ४७२ ईसवी मे लिखी गई थी।[2] जान पड़ता है कि राम-कथा के प्रचार का आरंभ सर्वप्रथम, भारत के उत्तर की ओर ही हुआ था। इसके पीछे वह पूर्व की ओर प्रचलित हुई।[3]

सभव है, राम-कथा की भाँति रामोपासना का भी कुछ न कुछ प्रचार उत्तर से ही आरंभ हुआ हो और फिर पूर्व की ओर गया हो, जिस प्रकार, कृष्ण-कथा के साथ-साथ कृष्ण-भक्ति का भी प्रभाव, इसके पहले, भारत के पश्चिम वाले देशों में फैला था। फलतः कृष्ण-कथा एवं कृष्ण-भक्ति पर जहाँ ईसाई धर्म की कुछ न कुछ छाया पड़ गयी वहाँ राम-कथा एवं रामोपासना पर भी पूर्व एवं उत्तर के देशो में, बौद्धधर्म का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। यह परिणाम उन-उन देशों मे प्रचलित धर्मों का ही था। इसके सिवाय, इस संबंध में एक यह बात भी उल्लेखनीय है कि पश्चिम के देशों में जहाँ कृष्ण-कथा एवं कृष्ण-भक्ति का स्वागत उनकी मार्मिक तथा दार्शनिक विशेषताओं के कारण हुआ, वहाँ राम-कथा एवं रामोपासना को उत्तर तथा पूर्व के देश वाले लोगों ने उनको सांस्कृतिक तथा कलात्मक बातों के कारण अधिक अपनाया।

---

[1] वासुदेव उपाध्याय : तिब्बत का प्राचीन धर्म बोनपा, शिक्षा (पत्रिका)

[2] नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५४, अंक ४, पृ० २८९

[3] बुल्के : राम-कथा, पृ० २२८

विदेशों में बौद्धधर्म

बौद्धधर्म के प्रचार-कार्य की नींव, उसके उदय के लगभग साथ ही, पड़ गयी थी। उसके प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध ने अपना ऋषिपत्तन वाला उपदेश देने के कुछ ही अनंतर अपने अनुयायियों को उसके प्रचारार्थ चारों ओर भेजना आरंभ कर दिया था। इन प्रचारकों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा था, "भिक्खुओं, जाओ, बहुजन हित के उद्देश्य से जाओ, और विश्व के कल्याणार्थ, प्रयत्न करो। इस उत्कृष्ट मत की सर्वत्र घोषणा करो और पूर्ण एवं पवित्र जीवन का उपदेश देना आरंभ कर दो।" फिर, "इस मार्ग की ओर उस समकालीन नक्षत्र की भाँति अंगुलिनिर्देश करो जो अंधकार में पड़े हुए यात्रियों का चाहे अपने धीमे प्रकाश द्वारा ही क्यों न हो, पथ-प्रदर्शन किया करता है; ऐसे पथिकों को प्रकाश दो, उन्हें शांति प्रदान करो और ज्ञान के लिए आर्तमानवों को 'धम्मं के सुनने का अवसर दो।' इस प्रकार तथागत के उपदेशों का वास्तविक उद्देश्य जीवन-दर्शन का निर्माण करना था, जीवन के प्रति उन्मुख होने का एक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर देना था। उनके कथन की शैली प्रवचनों के रूप में रहा करती थी, किंतु उसके अनंतर विचार-विनिमय भी हुआ करता था। केवल इस बात की चेष्टा की जाती थी कि श्रोताओं को अपने आप सोचने तथा तदनुसार आचरण करने की प्रेरणा दी जाय। बौद्ध धर्म के लिए, इसी कारण, किसी जटिल विधान अथवा परोक्ष सत्ता की मान्यता भी आवश्यक नहीं थी। प्रत्येक व्यक्ति अपने उद्धार के लिए स्वयमेव समर्थ समझा जाता था। अतएव, अपने आरंभ काल से ही, यह धर्म एक ऐसे रूप में प्रचलित होने लगा, जो एक ही साथ सुगम और सार्वजनीन भी था।

बौद्ध धर्म के प्रचार-कार्य में, तथागत का परिनिर्वाण होने पर भी, किसी प्रकार का ढीलापन नहीं आने पाया। जहाँ तक पता चलता है, उनके आदेशों का पालन, उनके शिष्यों द्वारा, सदा होता आया और यह धर्म क्रमशः बल ग्रहण करता गया। सम्राट् अशोक (रा० का० वि० पूर्व सं० २३०-२६०) के समय तक इसका प्रभाव कम से कम उत्तरी भारत में, अवश्य जम चुका था। फलतः अपनी कलिंग-विजय (वि० पू० सं० २६८) के अनतर, इस ओर वे आकृष्ट हो गये और उन्होंने इसे न केवल स्वयं अपनाया तथा इसे अपना राज्यधर्म बनाया, अपितु इसके समुचित प्रचार के लिए भी वे कटिबद्ध हो गये। उन्होंने इसके अनुयायियों की 'तृतीय संगीति' का आयोजन किया, जिसमें निरंतर नव महीनो तक वाद-विवाद चलता रहा और जिसके अनंतर, विभिन्न भारतीय प्रांतों के अतिरिक्त, सुदूर विदेशों तक में इसके प्रचारको का भेजा जाना आरंभ हो गया। जिन-जिन देशों के साथ उनका संपर्क बढ़ा, वहाँ-वहाँ उन्होने बौद्ध धर्म के संदेश भेजे और इसके प्रचारार्थ प्रयत्न किये। तदनुसार उनके धर्मदूत जहाँ एक ओर लंका द्वीप एवं स्वर्णद्वीप (संभवतः वर्मा) जैसे देशों तक गये वहाँ वे दूसरी ओर सीरिया, मिश्र, साइरीन, मैसिडन तथा एपिरस जैसे यूनानी राज्यों तक जा पहुँचे।' सम्राट् अशोक ने इन राज्यों के शासकों से अनुरोध किया कि वे इस धर्म का अपने यहाँ प्रचार करें। उन्होंने अपने साम्राज्य के सीमांत में प्रदेशों निवास करने वाली भिन्न-भिन्न जातियों में भी इसके संदेश अपने शिला-लेखों द्वारा पहुँचाये। सम्राट् अशोक के अनंतर ऐसे कार्यों में विशेष भाग लेने वाले एक अन्य पुरुष, सम्राट् कनिष्क जिन्होंने इसे पूर्ण प्रश्रय दिया, इसकी 'चतुर्थ संगीति' आमंत्रित की और इसका प्रचार किया।

सम्राट् अशोक के समय की गयी 'तृतीय संगीति' का एक प्रमुख उद्देश्य यह भी था कि इस धर्म के विभिन्न अनुयायियों में, उस काल तक उत्पन्न होगये, मतभेदो का निराकरण कर उनमें पूर्ण सामंजस्य

ला दिया जाय। किंतु उस अधिवेशन को इस ओर पूरी सफलता नहीं मिल सकी। इसके अनुयायियों के दो भिन्न-भिन्न दलों का पृथक्-पृथक् संगठन और प्रचार-कार्य आरंभ हो गया। इस विषय में पीछे सम्राट् कनिष्क के समय आमंत्रित की गयी 'चतुर्थ संगीति' के भी किये कुछ नहीं हो सका और दोनों दल क्रमशः महायान एवं हीनयान के नामों से प्रसिद्ध हो गये। इन दोनों की विचारधाराओं में जहाँ अनेक असमानताएँ थीं वहाँ वे कई बातों में एक समान भी थे। दोनों दल इस बात को मानते थे कि संसृति अनादि और अनंत है, सभी अनात्म हैं, सभी कुछ परिवर्तनशील है, कर्मवाद एवं जन्मांतर के नियम अनिवार्य हैं, हमारा अज्ञान सारे दुःखों का कारण है और आष्टांगिक मार्ग के अनुसार आचरण करना सर्वथा अभिनंदनीय है। किंतु इन दोनों में प्रमुख भेद इन बातों का था कि हीनयानी जहाँ गौतम बुद्ध को एक ऐतिहासिक महापुरुष मानकर चलते थे, उनका लक्ष्य प्रधानतः व्यक्तिगत सुधार एव अर्हत की प्राप्ति का था, भिक्खुओं एवं श्रमणो के आचरणों में स्पष्ट भेद की कल्पना करते थे, अनात्मतत्त्व के भाव को केवल तर्क पर आश्रित मानते थे और निर्वाण की दशा को जहाँ वे केवल तृष्णा, क्रोध एवं मोह की निवृत्ति तक ही सीमित मानते जान पड़ते थे, वहाँ महायान गौतम बुद्ध के व्यक्तित्व को बहुत कुछ दार्शनिक वा अलौकिक रूप दे देता था, व्यक्तिगत सुधार से कहीं अधिक विश्व कल्याण के लिए योजना तैयार करता था, भिक्खुओं एव श्रमणों के आचरण की भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ देना उतना पसंद नहीं करता था, अनात्म तत्व को अनुभवाश्रित मानता था। निर्वाण को केवल एक निषेधात्मक संज्ञा न देकर उसे किसी वास्तविक दशा का रूप भी प्रदान करता था। संक्षेप में कह सकते हैं कि हीनयान की अपेक्षा महायान अधिक प्रगतिशील एवं सुनिश्चित विचारों का समर्थक था। यह किसी व्यक्ति मात्र के लिए अर्हत के आदर्श को ही सर्वोच्च स्थान न देकर, सब किसी के लिए बोधिसत्व की उपयोगिता का समर्थन करता दीख पड़ता था।

भी पृथक् व्यवस्था कर दी। वहीं पर इन्होंने एक 'थूपाराम डेगोवा' नामक सुंदर स्तूप का भी निर्माण कर दिया है, जिसमें गौतम बुद्ध की हँसली की हड्डी का सुरक्षित होना बतलाया जाता है। ईसा की तीसरी शताब्दी में, फिर इस देश में, तथागत के एक दांत का भी अवशेष चिह्न लाया गया, जो वहाँ के कैंडी नगर के एक मंदिर में सुरक्षित है। लका द्वीप में इन अवशेष चिह्नों की सुरक्षा के अतिरिक्त एक यह महान कार्य भी किया गया कि वहाँ पर, ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी में उन सारे बुद्ध वचनों को जो अभी तक भिक्खुओं के जिह्वाग्र पर ही रहा करते थे लिखित रूप में ला दिया गया। बुद्ध घोष ने उन्हीं के आधार पर, ईसा की पाँचवी शताब्दी में अपने पाली ग्रंथ 'विसुद्धिमग्ग' की रचना की जो तथागत के मूल उपदेशों का एक प्रामाणिक कोष कहा जाता है। ग्यारहवीं शताब्दी में वहाँ के प्रचार कार्य में कुछ कमी अवश्य आ गयी जब उस द्वीप के ऊपर भारत की ओर से चोलों का आक्रमण हुआ। परंतु इसके अनतर वहाँ के राजा पराक्रम बाहु के शासन-काल में यह एक बार फिर सँभल गया और तब से थेरवाद की दृष्टि से यह द्वीप बौद्ध धर्म का एक सुदृढ़ गढ़ बन गया। यों तो सिंहली परंपरानुसार वहाँ, सर्वप्रथम, स्वयं गौतम बुद्ध और उनके पहले के तीन बुद्ध भी आ चुके थे और फिर किसी राजा विजय ने भी कुछ प्रचार किया था।

सम्राट अशोक ने सुवर्णभूमि अथवा बर्मा में भी अपने धर्मदूत भेजे थे, किंतु उनके प्रारंभिक प्रचार-कार्य का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। वहाँ के कुछ बौद्ध निवासियों की धारणा है कि उनके धर्म की जड़ जमाने में सबसे प्रमुख भाग वहाँ बुद्धघोष ने लिया था। तथ्य जो हो, इतना तो प्रायः निश्चित रूप में कहा जा सकता है कि ईसा के अनंतर लगभग एक सहस्र वर्षों तक वहाँ पर एक प्रकार की नट (भूत) पूजा ही अधिक प्रचलित थी। इसके सिवाय वहाँ के बौद्धों की विचारधारा एवं आचरणों से भी ऐसा जान पड़ता है कि उन पर विशुद्ध थेरवाद का

प्रभाव स्पष्ट रूप में नहीं पड़ा है। इस बात मे वहाँ का बौद्ध धर्म हीनयान एवं महायान का एक मिश्रित रूप कहा जा सकता है। बर्मी लोग नटों की पूजा आज भी करते हैं और वे उन्हें उसी प्रकार मानते हैं जैसे लंका वाले देवताओ के प्रति भय एवं श्रद्धा का प्रदर्शन किया करते हैं। वे हृदय से कट्टर बौद्ध हैं। इस देश के राजा अनव्रत जो ईस्वी सन् के १०४४ के लेकर १०७७ तक पगन में राज्य करते थे, स्वयं बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और उन्होंने ही थेरवाद को पूर्ण प्रश्रय प्रदान किया। उन्होंने धार्मिक सिद्धांतों के प्रचार के अतिरिक्त अपनी राजधानी में बौद्ध मंदिरों का निर्माण भी आरंभ कर दिया। उन्हें अपने राज्य भर में, पैगोडाओं के रूप में निर्मित कर उस देश मे कला प्रियता के भाव की प्रतिष्ठा कर दी। रंगून का स्वे डैगोनपैगोडा इस बात का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। ईसा की तेरहवीं शताब्दी में पगन राज्य पर कुबले खां का आक्रमण हुआ, जिससे बौद्ध धर्म के अनुयायियों को भी कुछ कष्ट पहुँचा। किंतु इसके लगभग तीन सौ वर्ष पीछे धम्म चेति (१४६०-६१) के प्रयत्नों द्वारा, वहाँ के बौद्ध धर्म में फिर एक नवीन जीवन का संचार हुआ और सारा देश एक ही धर्म के सूत्र में बंध गया। लंका दीप के समान यहाँ भी ईसाई धर्म ने बड़ी तत्परता के साथ अपने प्रभाव को जमाने के प्रयत्न किये हैं, किंतु थेरवाद का आसन अभी तक जमा है।

श्याम देश के निवासी थाई लोग पहले पहल चीन देश की ओर से वहाँ आये थे और कदाचित् उसके पहले से ही बौद्ध बन चुके थे। यहाँ के निवासियों में बर्मी, करेन, शान, तलैंग, आराकानी, ख्मेर, लाओ, चाम, अन्नामी आदि अनेक प्रकार की जातियाँ पायी जाती हैं जो बहुत काल तक परस्पर लड़ती चली आयी हैं और एक ने दूसरे पर शासन भी किया है। किंतु सभी ने सर्वप्रथम, कदाचित् महायान धर्म को ही अपनाया था और पीछे उन्होंने फिर लगभग एक ही साथ थेरवाद का मत स्वीकार कर लिया। ईसा की चौदहवीं शताब्दी मे यहाँ के राजा ने

इस प्रकार समय पाकर, बौद्ध धर्म अपने प्रवर्तक के उपदेशों का केवल एक साधारण निचोड़ मात्र ही नहीं रह गया। इसने क्रमशः धर्म एव दर्शन का एक संमिलित स्पष्ट रूप ग्रहण कर लिया और इसके अतर्गत अनेक प्रकार की विचारधाराएँ अंतर्भुक्त हो गयीं। इसका एक प्रमुख कारण यह था कि इसके क्रमिक विकास को सदा विचार-स्वातंत्र्य से ही अधिक बल मिलता गया और जहाँ-जहाँ इसका प्रचार हुआ वहाँ-वहाँ इसने अपने को स्थानीय प्रचलित परंपराओ तथा विभिन्न परिस्थितियों के भी अनुकूल बना डालने का प्रयत्न किया। अपने मूल स्थान भारतवर्ष में जहाँ इसे हिंदू धर्म के साथ विकसित होने का अवसर मिला, यह उसमे क्रमशः घुल-मिल कर तद्रूप वन गया। यह इसलिए संभव हुआ कि बौद्ध धर्म का मूल उत्स वस्तुतः वेदों, ब्राह्मणों एवं उपनिपदों के ही क्षेत्र में प्रतिष्ठित रह चुका था, इस कारण, उन पर आश्रित हिंदू धर्म के एक बार पुनः जाग्रत हो जाने पर, इसके साथ उसका समन्वयात्मक आदान-प्रदान हो जाना वहुत सरल बन गया। परतु बाहर जाकर यह कई रूपों में दीख पड़ा। यदि स्थूलतः विचार किया जाय तब भी विदेशों में इसके कम से कम चार प्रमुख संप्रदाय वतलाये जा सकते हैं जिनमें से प्रत्येक में कई उपसंप्रदाय हैं। इसका सबसे प्राचीन (और संभवतः मौलिक) रूप हमें 'हीनयान' अथवा थेरवाद में दीख पड़ता है जो इस समय लंका, वर्मा, श्याम, आदि में मिलता है। किंतु इसके अधिक विकसित वा परिवर्तित रूप 'महायान' का पता हमें अन्य कई देशो में चलता है जिनमें चीन, कोरिया, आदि के नाम लिये जा सकते हैं तिब्बत, भूटान, सिक्किम एवं नेपाल में इसका रूप महायान से भी कुछ भिन्न कहा जा सकता है। इसी प्रकार, जापान में प्रचलित, एवं 'जेन' के नाम से प्रसिद्ध संप्रदाय मे अनेक ऐसी विशेपताएँ आ गयी हैं, जिनके कारण उसे इसके साथ संवद्ध करना कठिन हो जाता है।

विदेशों में बौद्ध धर्म के पहुँचने, वहाँ प्रचलित होने तथा वहाँ की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार इसके न्यूनाधिक परिवर्तित रूप ग्रहण

करते जाने का इतिहास बहुत मनोरंजक है। इससे उसके वास्तविक रूप की समीक्षा तथा मूल्यांकन करने में हमें बहुत कुछ सहायता मिलती है। केवल कतिपय विश्वजनीन एवं शाश्वत प्रश्नों को लेकर निश्चित किया गया एक दृष्टिकोण जिसे आज से लगभग ढाई सहस्र वर्ष पूर्व किसी भारतीय महापुरुष ने अपने गंभीर चिंतन के उपरात अपनाया था, किन साधनों के सहारे अपने प्रचार-क्षेत्र की सीमा बाँध कर क्रमशः सुदूर विदेशों तक पहुँच गया, किन रूपों में उसका कहाँ स्वागत हुआ और, कैसे-कैसे संघर्षों का सामना करता हुआ वह अंत में आज के विभिन्न भेदों के साथ प्रकट हुआ इसकी कहानी स्वभावतः बहुत विस्तृत और विचित्र भी बन गयी है, जिसकी यहाँ केवल एक रूपरेखा मात्र ही प्रस्तुत की जाती है।

बौद्ध धर्म के विदेशो में किये गये, सर्वप्रथम, प्रचार का निश्चित पता हमें लंकाद्वीप के संबंध में उपलब्ध है। सम्राट् अशोक ने वहाँ पहले पहल स्वयं अपने पुत्र थेरो महिंद अथवा महेंद्र को भेजा जिन्होंने वहाँ एक धर्मोपदेशक के रूप में जाकर प्रचार-कार्य किया। 'दीपवंश' एवं 'महावंश' नामक दो प्रसिद्ध सिंहली ग्रंथों से पता चलता है कि राजकुमार महेंद्र को वहाँ बहुत बड़ी सफलता मिली और वे आजीवन प्रयत्नशील बने रह गये। उन्होंने वहाँ के राजा 'देवानां प्रिय तिष्य' और उसके सभासदों को बौद्ध धर्म का अनुयायी बनाया और इसके लिए संगठित कार्यक्रम की नींव डाली। कहते हैं कि 'थेरो महिंद' की अस्थियाँ एक स्तूप के नीचे गड़ी हुई, वहाँ पर आज तक वर्तमान हैं। फिर महेंद्र के अनतर उनकी बहन संघमित्ता वा संघमित्रा भी लंका द्वीप तक पहुँच गयी और वहाँ की यात्रा करते समय वह यहाँ से बुद्ध गया के प्रसिद्ध 'बोधि वृक्ष' की एक शाखा भी लेती गयी। वह शाखा, एक महान् वट वृक्ष के रूप में, वहाँ की प्राचीन राजधानी अनुराधापुर में अभी तक दीख पड़ती है। राजा तिष्य ने, इन दोनों भाई-बहनों की स्मृति में, उस क्षेत्र के निकट एक बौद्ध विहार की स्थापना की। इसके लिए कुछ भूमि की

भी पृथक् व्यवस्था कर दी। वहीं पर इन्होंने एक 'थूपाराम डेगोवा' नामक सुंदर स्तूप का भी निर्माण कर दिया है, जिसमें गौतम बुद्ध की हँसली की हड्डी का सुरक्षित होना बतलाया जाता है। ईसा की तीसरी शताब्दी में, फिर इस देश में, तथागत के एक दांत का भी अवशेष चिह्न लाया गया, जो वहाँ के कैंडी नगर के एक मंदिर में सुरक्षित है। लका द्वीप में इन अवशेष चिह्नों की सुरक्षा के अतिरिक्त एक यह महान कार्य भी किया गया कि वहाँ पर, ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी में उन सारे बुद्ध वचनों को जो अभी तक भिक्खुओं के जिह्वाग्र पर ही रहा करते थे लिखित रूप में ला दिया गया। बुद्ध घोष ने उन्हीं के आधार पर, ईसा की पाँचवी शताब्दी में अपने पाली ग्रंथ 'विसुद्धिमग्ग' की रचना की जो तथागत के मूल उपदेशों का एक प्रामाणिक कोष कहा जाता है। ग्यारहवीं शताब्दी में वहाँ के प्रचार कार्य में कुछ कमी अवश्य आ गयी जब उस द्वीप के ऊपर भारत की ओर से चोलों का आक्रमण हुआ। परंतु इसके अनतर वहाँ के राजा पराक्रम बाहु के शासन-काल में यह एक बार फिर सँभल गया और तब से थेरवाद की दृष्टि से यह द्वीप बौद्ध धर्म का एक सुदृढ़ गढ़ बन गया। यों तो सिंहली परंपरानुसार वहाँ, सर्वप्रथम, स्वयं गौतम बुद्ध और उनके पहले के तीन बुद्ध भी आ चुके थे और फिर किसी राजा विजय ने भी कुछ प्रचार किया था।

सम्राट अशोक ने सुवर्णभूमि अथवा बर्मा में भी अपने धर्मदूत भेजे थे, किंतु उनके प्रारंभिक प्रचार-कार्य का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। वहाँ के कुछ बौद्ध निवासियों की धारणा है कि उनके धर्म की जड़ जमाने में सबसे प्रमुख भाग वहाँ बुद्धघोष ने लिया था। तथ्य जो हो, इतना तो प्रायः निश्चित रूप में कहा जा सकता है कि ईसा के अनंतर लगभग एक सहस्र वर्षों तक वहाँ पर एक प्रकार की नट (भूत) पूजा ही अधिक प्रचलित थी। इसके सिवाय वहाँ के बौद्धों की विचारधारा एवं आचरणों से भी ऐसा जान पड़ता है कि उन पर विशुद्ध थेरवाद का

प्रभाव स्पष्ट रूप में नहीं पड़ा है। इस बात मे वहाँ का बौद्ध धर्म हीनयान एवं महायान का एक मिश्रित रूप कहा जा सकता है। बर्मी लोग नटों की पूजा आज भी करते हैं और वे उन्हें उसी प्रकार मानते हैं जैसे लका वाले देवताओं के प्रति भय एवं श्रद्धा का प्रदर्शन किया करते हैं। वे हृदय से कट्टर बौद्ध हैं। इस देश के राजा अनब्रत जो ईस्वी सन् के १०४४ के लेकर १०७७ तक पगन में राज्य करते थे, स्वयं बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और उन्होंने ही थेरवाद को पूर्ण प्रश्रय प्रदान किया। उन्होंने धार्मिक सिद्धांतों के प्रचार के अतिरिक्त अपनी राजधानी में बौद्ध मंदिरो का निर्माण भी आरंभ कर दिया। उन्हें अपने राज्य भर मे, पैगोडाओं के रूप में निर्मित कर उस देश में कला प्रियता के भाव की प्रतिष्ठा कर दी। रंगून का स्वे डैगोनपैगोडा इस बात का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। ईसा की तेरहवीं शताब्दी मे पगन राज्य पर कुबले खां का आक्रमण हुआ, जिससे बौद्ध धर्म के अनुयायियों को भी कुछ कष्ट पहुँचा। किंतु इसके लगभग तीन सौ वर्ष पीछे धम्म चेति (१४६०-६१) के प्रयत्नों द्वारा, वहाँ के बौद्ध धर्म मे फिर एक नवीन जीवन का संचार हुआ और सारा देश एक ही धर्म के सूत्र में बंध गया। लंका द्वीप के समान यहाँ भी ईसाई धर्म ने बड़ी तत्परता के साथ अपने प्रभाव को जमाने के प्रयत्न किये हैं, किंतु थेरवाद का आसन अभी तक जमा है।

श्याम देश के निवासी थाई लोग पहले पहल चीन देश की ओर से वहाँ आये थे और कदाचित् उसके पहले से ही बौद्ध बन चुके थे। यहाँ के निवासियो में बर्मी, करेन, शान, तलैंग, आराकानी, ख्मेर, लाओ, चाम, अन्नामी आदि अनेक प्रकार की जातियाँ पायी जाती हैं जो बहुत काल तक परस्पर लड़ती चली आयी हैं और एक ने दूसरे पर शासन भी किया है। किंतु सभी ने सर्वप्रथम, कदाचित् महायान धर्म को ही अपनाया था और पीछे उन्होंने फिर लगभग एक ही साथ थेरवाद का मत स्वीकार कर लिया। ईसा की चौदहवीं शताब्दी मे यहाँ के राजा ने

लंका से किसी सिंहली भिक्खु को बुला भेजा, जिसने यहाँ की राजधानी सुखोटाई में थेरवाद के संघराज का पद ग्रहण कर लिया।[1] उस समय वहाँ का राजा स्वयं बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया और सम्राट अशोक की भाँति, उसने इसे राज्य धर्म का भी पद प्रदान कर दिया। तब से आज तक बौद्ध धर्म वहाँ के संघ एवं राजपरिवार के संमिलित प्रयत्नों द्वारा प्रचारित किया जाता आया है। लंका अथवा सिंहल के थेरवादी भिक्खु पीले रंग का वस्त्र धारण करते हैं, जहाँ बर्मी भिक्खुओं के वस्त्र का रंग नारंगी का रहा करता है। इसी प्रकार सिंहली बौद्ध लोग जहाँ अपने मत का मूलाधार 'सुत्त पिटक' को स्वीकार करते हैं और बर्मी 'अभिधम्म पिटक' को महत्व देते हैं वहाँ श्याम वालों के लिए बुद्ध वचनों का 'विनय पिटक' सर्वप्रमुख मार्ग-प्रदर्शक समझा जाता है। यों तो इन सभी की दृष्टि में संपूर्ण त्रिपिटक पूज्य धर्म ग्रंथ है।

कंबोडिया अथवा पूरे इंदोचीन की भी दशा लगभग वही रही है जो श्याम की थी। यहाँ पर भी चीन के महायान का ही प्रभाव पड़ा था और कहीं कहीं-हिंदू धर्म के पुराने रूपों के भी बहुत-से उदाहरण दिखलायी पड़ते थे। ईसा की चौदहवीं शताब्दी तक इस देश में प्रायः सर्वत्र यही स्थिति रही। तदनंतर श्याम देश का प्रभाव क्रमशः पड़ना आरंभ हो गया। उसके साथ यहाँ पर भी थेरवाद का प्रचार पूर्ण रूप से होने लगा। इस देश की एक विशेषता, अभी आज तक यहाँ के घरेलू युद्धों में ही लक्षित होती है, किंतु इसके कारण यहाँ पर बौद्ध धर्म की प्रगति में कोई अंतर नहीं आ पाता। सिंहल द्वीप वा लंका से लेकर वर्मा श्याम एवं इंदोचीन तक, इस समय, सर्वत्र थेरवाद वा हीनयान का पूरा प्रभाव है। फिर भी इसका अर्थ यह नहीं कि इन सभी

---

[1] राजा का नाम 'सूर्यवंशराम' था और बौद्ध धर्म के लंका से श्याम पहुँचने का समय सन् १२६१ ईसवी बतलाया गया है। (दि हिंदुइज़्म एंड बुद्धिज़्म, भा० ३, पृ० १० का नोट)।

देशों में हमें हीनयान के उस पूर्व रूप के ही दर्शन होते हैं, जो तथागत का परिनिर्वाण होने के अनंतर सर्वप्रथम दीख पड़ा था। श्याम देशीय संघों की प्रवृत्ति क्रमशः आधुनिक पाश्चात्य विचारधारा के संपर्क में आते जाने की हो रही है। योरपीय दर्शनादि के विशिष्ट ग्रंथों का स्थानीय भाषाओं में अनुवाद होता जा रहा है और थेरवादी ग्रंथों का भी भाषांतर होने लगा है और इसमें राजकीय सहायता भी उपलब्ध हो रही है। इसी प्रकार सिंहल देश में भी इस ओर पूरी जागृति के लक्षण दिखलायी देने लगे हैं और यहाँ से धर्म दूतों के बाहर भेजे जाने तक की व्यवस्था की गयी है। यहाँ की प्रसिद्ध 'महा बोधि सोसायटी' की शाखाएँ विदेशों में प्रायः सर्वत्र प्रचलित होती जा रही है। इसके द्वारा प्रयत्न किया जा रहा है कि बौद्ध धर्म के मूलरूप का न केवल गंभीर वैज्ञानिक अध्ययन किया जाय, अपितु इसे अन्य धर्मों की तुलना में भी रख कर परखा जाय। इस प्रकार के प्रयत्नों का एक यह परिणाम भी हो सकता है कि इन देशों में प्रतिष्ठित थेरवाद के ऊपर जो स्थानीय मतवादों वा प्रचलित परंपराओं का प्रभाव कभी पहले न्यूनाधिक रूप में पड़ चुका था, वह क्रमशः क्षीण होता चला जाय और इसका विशुद्ध रूप निखर कर प्रकट हो जाय। कंबोज नरेशों के कट्टर बौद्ध होते हुए भी उनके दर्बारों की अनेक प्रथाएँ अभी तक हिंदू धर्म का अनुसरण करती हैं और उनके पुरोहित शिखा-सूत्र धारण करते हैं।[1]

बौद्धधर्म का हीनयान संप्रदाय जिस प्रकार, भारत से बाहर, इसके दक्षिण और पूर्व की ओर बढ़ा है, उसी प्रकार महायान इसके उत्तर-पश्चिम की ओर से निकल कर क्रमशः उत्तर एवं उत्तर-पूर्व की ओर प्रचलित होता हुआ चला गया है। उधर वह भारत से चीन, चीन से कोरिया और कोरिया से जापान तक पहुँचा है। इधर चीन से ही तिब्बत तथा वहाँ से मंगोलिया और भूटान एवं सिकिम की ओर फैला

---

[1] सर चार्ल्स इलियट : हिंदुइज़्म ऐंड बुद्धिज़्म, खंड ३, पृ० १२६

है। प्रसिद्ध है कि बौद्धधर्म के प्रचारक, सर्वप्रथम, भारत से चल कर चीनदेश की राजधानी में, ईस्वी सन् पूर्व २१७ वें वर्ष मे पहुँचे थे। उस समय वहाँ पर शिनवंश का राज्य था, किंतु उस काल के प्रामाणिक इतिहासों में इस बात का कोई भी उल्लेख उपलब्ध नहीं है। एक परंपरा इस बात का भी समर्थन करती है कि ईस्वी सन् पूर्व के १२१ वें वर्ष में चीन का कोई सेनापति मध्य एशिया से गौतमबुद्ध की एक स्वर्ण प्रतिमा लाया था, किंतु इस घटना का भी किसी ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर, प्रमाणित किया जाना संभव नहीं जान पड़ता। इससे कहीं अधिक प्रामाणिक बात यह जान पड़ती है कि ईस्वी सन् पूर्व के दूसरे वर्ष में यू-ए-ची जाति के शासकों ने, चीन के हान वंशीय राजाओं के दर्बार में, सर्वप्रथम, बौद्धधर्म के कतिपय मान्य ग्रंथों को, भेंट के रूप में, प्रस्तुत किया था। निश्चित ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि बौद्धधर्म के प्रचारक वहाँ, सर्वप्रथम, ईस्वी सन् ६५ में पहुँचे थे।[1]

चीन देश की एक दंतकथा के अनुसार वहाँ के हानवंशीय मिंगटी नामक राजा (सन् ५८-७५ ई०) ने एक दिन स्वप्न में देखा कि कोई स्वर्ण निर्मित मनुष्य उड़ता हुआ, मेरे राजमंदिर में प्रवेश कर रहा है। इसके द्वारा वह अत्यंत प्रभावित हुआ। उसे, अपने सभासदो से पूछने पर पता चला कि वह घटना पश्चिम दिशा की ओर से गौतमबुद्ध के आगमन की सूचना देती है। अतएव, सन् ६५ ईसवी में उसने अपने तीन राजदूत भेजे जो भारत आये। यहाँ से काश्यप मातंग एवं धर्मरत्न नामक दो बौद्ध आचार्यों को लेकर, बौद्ध प्रतिमाओं तथा धर्मग्रंथों के साथ लौटे। ये सामग्रियाँ श्वेत घोड़ों पर लदी आयी थीं जिस कारण उन आचार्यों के रहने के लिए निर्मित राजधानी के मठ का नाम भी 'श्वेताश्वविहार' पड़ गया। ये दोनों आचार्य वहाँ पर अपने जीवन-काल

---

[1] डा० पी० सी० बागची : इंडिया ऐंड चाइना, पृ० ७

तक रह गये । उन्होंने महायान संप्रदाय के कुछ ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इनमें एक ग्रंथ 'बयालिस अंगो का सूत्र' नाम का भी था जिसमें अधिकतर ऐसे नियम संगृहीत थे जो थेरवादी विचार-धारा के भी अनुकूल पड़ते थे। इसकी विरक्तिमार्गी व्यवस्था उस देश के कनफूशियनों तथा लाओज़े के अनुयायियों को अपने मतो के विरुद्ध जँची और यह उनके पसंद न आयी। चीन देश के निवासी स्वभावतः व्यवहारवादी होते हैं। वे समाज में नैतिक आचरण को प्रधानता देते हैं, जहाँ भारतीय बौद्धधर्म मूलतः उच्च सिद्धांतों का प्रचारक ,था। उसमें तत्वज्ञान तथा असांसारिक बातों को ही अधिक महत्व दिया जाता था। इसका दुःखवाद पर आश्रित भिक्खुओं का संगठन उनके स्वभाव के प्रतिकूल जान पड़ा। एक प्राचीन सभ्य देश के निवासी होने के कारण भी, उन्होंने इसका विरोध किया अतएव, बौद्धधर्म को वहाँ उस समय अच्छी सफलता नहीं मिल सकी। उसके लगभग तीन शताब्दी पीछे ही, वह वहाँ अपने पैर जमा सका।[1]

परंतु दक्षिण चीन की ओर इस धर्म का प्रवेश बहुत कुछ स्वतंत्र रूप से भी हो चुका ,था। इस बात का प्रमाण मिलता है कि इसके प्रचारक उस ओर ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक, अपने कार्य में उद्योगशील बन चुके थे। भारत एवं चीन का व्यापारिक संबंध इसके पहले, अर्थात् लगभग ईसवी सन् पूर्व की द्वितीय शताब्दी के ही समय से स्थापित हो चुका था और भारतीय लोग 'चीन' शब्द से परिचित हो चुके थे। यह शब्द चीनी भाषा के त्सिन (Ts'in) का रूपातर है जो ईसवी सन् पूर्व (२२१-२०६) पर्यंत राज्य करने वाले राजवंश का नाम था। 'चीन' शब्द का प्रयोग, प्रसिद्ध ग्रंथ 'महाभारत' मे भी मिलता है, जिसकी रचना ईसवी सन् पूर्व की द्वितीय अथवा प्रथम शताब्दी में हुई

---

[1] क्रिसमस हम्फ्रीज़ : बुद्धिज्म, पृ० ६६

थी।[1] शकराज्य का भारत में अंत हो जाने पर इस देश के पश्चिमोत्तरी भाग का एक अंश पार्थियन लोगों के हाथ में पड़ गया था, जिनक साम्राज्य बहुत विस्तृत था और जिनके शासनाधीन कई मध्य एशिया स्थित देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार कुछ पहले से ही होता आ रहा था। पार्थियन वश के एक राजकुमार ने जिसका नाम शेकाओ अर्थात् लोकोत्तम बतलाया जाता है, अपना राज्याधिकार अपने चचा को दे दिया और बौद्ध भिक्खुओं की दीक्षा ले ली। यह घटना ईसवी सन् की द्वितीय शताब्दी के लगभग मध्यकाल की है, जब चीन के राजा द्वारा बौद्धधर्म का स्वागत किया जा चुका था। शेकाओ एक अच्छा विद्वान् भी था और वह बौद्ध धर्म के कई मूलग्रंथो को लेकर चीन की राजधानी में पहुँच गया। वहाँ पर वह 'श्वेताश्वविहार' में जाकर ठहरा और वहीं रह कर उसने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में कर डाला। शेकाओ के आदर्श पर चीनी अनुवादकों का एक पृथक् संप्रदाय ही चल पड़ा। इसके अनंतर मध्य एशिया के कतिपय सोगदी लोगों ने भी उसका अनुकरण किया।

सेंगहुई ऐसे सोगदी लोगों में सबसे अधिक प्रसिद्ध हुआ। उसी ने दक्षिणी चीन में, सर्वप्रथम, सुव्यवस्थित प्रचार आरभ किया उसके माता-पिता भारत में भी रह चुके थे और यहीं से वे टोंकिन गये थे जहाँ, ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी के प्रथम चरण में उसका जन्म हुआ। टोंकिन में कुछ दिनों तक रहकर सेंगहुई अंत में, नैंकिंग पहुँचा जहाँ पर एक बौद्ध विहार की स्थापना करके उसने अपना एक पंथ चल दिया। मध्य एशिया के यू-ए-ची शासकों द्वारा चीनी दर्बार में कतिपय धर्म-ग्रंथों को समर्पित किये जाने की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। ईसा की द्वितीय तथा तृतीय शताब्दियों में भी यू-ए-ची धर्मप्रचारक अच्छी संखया में चीन पहुँचे। ऐसे लोगों में सर्वप्रसिद्ध धर्मरक्ष है, जो तृतीय

---

[1] डा० पी० सी० बागची : इंडिया ऐंड चाइना, पृ० ८

शताब्दी के मध्यकाल में चीन गया और जो उन यू-ए-चियों का वंशज था, जो चीन की सीमा पर ही बसे थे। उसने भारतीय शिक्षकों द्वारा ही बौद्ध धर्म की शिक्षा पायी थी और वह उनके साथ मध्यएशिया के अनेक प्रदेशों मे यात्रा भी कर चुका था। पता चलता है कि वह छत्तीस विभिन्न भाषाओं का जानकार था, जिनमें सस्कृत एवं चीनी भाषाएँ भी थीं। धर्मरक्ष भी अपने यहाँ से चीन की राजधानी पहुँचा और वहाँ रह कर उसने न केवल अनेक संस्कृत ग्रंथों का चीनी भाषा मे अनुवाद किया, अपितु जीवन भर बौद्ध धर्म का प्रचार करता रहा धर्मरक्ष चीनी धर्मग्रंथों के इतिहास में, 'फाह-हू' नाम से भी प्रसिद्ध है, जो वस्तुतः उसके सस्कृत नाम का ही रूपातर मात्र है।

बौद्ध धर्म के प्रचार में यू-ए की लोगों के ही समान कुचियों का भी हाथ रहा और इन्होंने अपने प्रयत्न चौथी शताब्दी से आरंभ किये। चीन के एक सेनापति ने इसी समय कुची लोगों पर धावा किया और उसने प्रसिद्ध कुची बौद्ध विद्वान् कुमार जीव को सन् ४०१ ईसवी मे बंदी बना लिया। कुमार जीव के पिता कुमारायण एक भारतीय बौद्ध थे जो किसी प्रकार कुची लोगों के देश अर्थात् उत्तरी मध्यएशिया तक यात्रा करके पहुँच गए थे। वहाँ पर वे अपनी योग्यता के कारण 'राजगुरु' के पद पर समाहत हुए थे। उन्होंने अपना विवाह भी किसी राजकुमारी के ही साथ कर लिया था, जिसका नाम 'जीवा' बतलाया जाता है और जिसने अपने पुत्र कुमार जीव के जन्म-समय से बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। कुमार जीव अपनी माता के साथ काश्मीर आये जहाँ उन्होंने बंधुदत्त नामक विद्वान् से बौद्ध दर्शन का गंभीर अध्ययन किया। वे फिर अपनी जन्मभूमि की ओर लौट गये। उधर पूर्वी तुर्किस्तान के खोतान, काशगर, यारकंद आदि के बौद्धों में एक प्रकांड पंडित के रूप में विख्यात हो गये। अपनी इस प्रसिद्धि के ही कारण उन्हें चीनी सेनापति का बंदी बन कर चीन देश मे आना पड़ा, जहाँ वे सन् ४१३ ईसवी तक जीवित रहे। कुमार जीव, अपनी गंभीर विद्वत्ता के कारण, धर्मग्रंथों के

अनुवाद-कार्य में बहुत अधिक सफल सिद्ध हुए। उनके अनेक शिष्य भी बन गये। वे इनसे प्रायः कहा करते थे "मेरे कार्य को ही अपना आदर्श बनाना मेरे जीवन की ओर उतना ध्यान न देना। कमल का फूल कीचड़ से उत्पन्न होता है, किंतु कमल को ही महत्त्व दिया जाता है कीचड़ के साथ कोई प्रेम नहीं दिखलाता।"[1]

बौद्ध धर्म के प्रचार में उस समय ठेठ भारतीय विद्वानों ने भी बहुत भाग लिया। काश्मीर प्रांत उन दिनों बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी लोगों का एक प्रमुख केंद्र था और कुषाण साम्राज्य के समय, यहाँ पर अन्य प्रांतों की अपेक्षा इस धर्म को कहीं अधिक सफलता मिली थी। ईसा की चौथी शताब्दी से यहाँ के बौद्ध विद्वानों का मध्य एशिया की ओर जाना आरंभ हुआ। संघभूति नामक एक बौद्ध पंडित वहाँ सन् ३८१ ईसवी में पहुँचे। उन्होंने वहाँ पर 'विनय पिटक' का चीनी अनुवाद किया। फिर सन् ३८४ ईसवी में ही वहाँ गौतमसंघ देव नामक एक और ऐसे विद्वान् गये, जिन्होंने अभिधर्म साहित्य की ओर वहाँ के निवासियों का विशेष ध्यान दिलाया। सन् ३९१ ईसवी में ये दक्षिणी चीन के उस भाग की ओर भी पहुँचे, जहाँ सोगदी बौद्ध पंडित सेंगहुई ने अपना एक संप्रदाय स्थापित कर दिया था। यहाँ से वे फिर लुशन तथा क्रमशः नैंकिंग तक भी गये जहाँ के राजकीय कर्मचारियों पर उन्होंने अपना विशेष प्रभाव डाला। संघदेव के अनंतर चीन की ऐसी यात्रा करने वालों में पुण्यत्रात, धर्मयशस् आदि के भी नाम लिये जाते हैं। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध बुद्ध यशस् हुए, जिनके काश्मीरी ब्राह्मण पिता के विषय में कहा जाता है कि उन्हें बौद्धधर्म के प्रति पहले कुछ भी आकर्षण नहीं था। एक बार उन्होंने किसी बौद्ध भिक्षु को पीट दिया, जिसके परिणाम स्वरूप उनके हाथों में लकवे की बीमारी हो गयी। इसका उनके ऊपर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने फिर उस भिक्षु को अपने यहाँ निमंत्रित कर उसका बड़ा आदर किया और

---

[1] डा० पी० सी० बागची : इंडिया ऐंड चाइना, पृ० ३८

उसे अपने तेरह वर्ष के लड़के उक्त यशस् को भी दे डाला। यही लड़का पीछे स्वयं एक बहुत बड़ा भिक्षु बन गया और बौद्ध धर्म के प्रचार में इसने कई महत्त्वपूर्ण कार्य किये।

बुद्ध यशस् अपने प्रचार-कार्य के सबंध में १० वर्षों तक काशग़र में रहे जहाँ वे वहाँ के राजमंदिर में रहा करते थे। यहाँ पर उनसे कुमार जीव से भेंट हुई जो कुची लोगों के देश की यात्रा कर रहे थे। कुमार जीव के चीन में पहुँचने पर ये उनसे वहाँ भी मिले। इनके चीनी जीवनी लेखकों ने इनके चरित्र की महत्ता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उस काल के अन्य ऐसे क़ाश्मीरी पंडितों में विमलाक्ष, बुद्ध जीव, आदि भी प्रसिद्ध हैं। इनमें से बुद्धजीव फाहियान के भी सहयोगी थे। इन दोनों से अधिक विख्यात गुणवर्मन् हैं जो काश्मीर के राजवंश में उत्पन्न हुए थे। बौद्ध धर्म का प्रचार करते समय इनसे अनुरोध किया गया कि ये भिक्खुओं के वेश का परित्याग करके राजगद्दी पर बैठें, किंतु इन्होंने अस्वीकार कर दिया और ये घनघोर वनों में जाकर निवास करने लगे। ये वहाँ से फिर लंकाद्वीप गये जहाँ इन्होंने वहाँ के प्रचारकों का पथ-प्रदर्श किया। वहाँ से आगे जावाद्वीप तक बढ़ गये। जावा द्वीप में उस समय तक बौद्धधर्म जा चुका था। गुणवर्मन् ने जाकर वहाँ के राजा को इस धर्म में सपरिवार दीक्षित कर दिया और फिर वहाँ से ये आस-पास के द्वीपों में भी गये। इनका नाम वहाँ पर इतना प्रसिद्ध हो गया कि इन्हें अपने यहाँ बुलाने के उद्देश्य से सुदूर चीन के सम्राट ने अपना आदमी भेजा। इस प्रकार सन् ४३१ ईसवी में ये चीन पहुँचे जहाँ इनका अपूर्व स्वागत हुआ और सम्राट ने इन्हें वहाँ के प्रमुख विहार जेतवन में ठहराया। इनके साथ उन दिनों एक अन्य काश्मीरी पंडित भी थे, जिनका नाम धर्म मित्र था और जो ध्यान की साधना का विशेष प्रचार करते थे।

उस समय बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ भारत के कतिपय अन्य प्रांतो के निवासियों ने भी चीन की यात्रा की थी। इनमे से धर्मक्षेत्र मध्य भारत के

रहने वाले थे जहाँ से वे कुची आदि जातियों के देशों से होते हुए पश्चिमी चीन तक पहुँचे थे। यहाँ रह कर प्रचार करने के लिए वे किसी बौद्ध शासक द्वारा रोक लिये गये और जब उन्होंने ऐसे नियंत्रण की अवहेलना की तो उनकी हत्या भी कर डाली गयी। मध्य-भारत के ही एक ही दूसरे निवासी गुणभद्र भी थे जो पहले और फिर वहाँ से समुद्र द्वारा चीन के कैंटन नगर चले गये जहाँ से वे उस देश की दक्षिणी राजधानी नैंकिंग में भी पहुँचा दिये गये। पूर्वी भारत से इसी प्रकार ज्ञानभद्र, यशोगुप्त आदि एवं पश्चिमी भारत से उपशून्य तथा परमार्थ जैसे विद्वान बौद्ध यात्री भी चीन गये थे। परमार्थ का एक अन्य नाम गुण-रत्न भी था और वे पाटलिपुत्र में जाकर बस गए थे जहाँ से राजाज्ञा द्वारा वे भी विदेश भेजे गये थे। वे सन् ५४६ ईसवी में चीन पहुँचे थे और वहाँ रह कर उन्होंने लगभग सत्तर ऐसे ग्रंथो के अनुवाद किये थे जो विभिन्न विषयों के थे। पश्चिमोत्तर भारत से चीन जाने वालों में भी ऐसे कई प्रचारकों के नाम लिये जाते हैं, जिनमें सर्व प्रमुख बुद्ध भद्र थे, जिन्हें काश्मीर की बौद्ध जनता ने अपने यहाँ से सर्व श्रेष्ठ समझ कर चीन भेजा था। ये चीनी यात्री चेयेन के साथ, वर्मा से होते हुए चीन तक लगभग तीन वर्षों में पहुँचे और वहाँ कुमार जीव से मिले। ये बड़े ही स्वतंत्र प्रकृति के थे और किसी राजे महाराजे के सहयोग की कभी चिंता नहीं करते थे। इनकी विद्वत्ता की धाक स्वयं कुमार जीव तक पर भी कम न थी। बुद्ध भद्र अपने को महात्मा गौतम बुद्ध के चाचा अमृतो-दन का वंशज मानते थे और वे नगरहार (जलालाबाद) में उत्पन्न हुए थे। कहते हैं कि कोशल के राजा विरुधक द्वारा कपिल वस्तु के आक्रात हो जाने पर वहाँ के कुछ शाक्य वंशी भारत के पश्चिमोत्तर प्रांतों में चले गये थे। बुद्ध भद्र की ही भाँति इस प्रकार के एक धर्म प्रचारक विमोक्ष-सेन भी थे जिनकी जन्मभूमि उड्डीयान (स्वात की तराई) के प्रदेश में थी। ये अभिधर्म के विशेषज्ञ थे और इन्होंने सन् ५४१ ईसवी के आस-पास चीन के उत्तरी प्रदेशों में रह कर काम किया था।

जिनगुप्त एवं धर्मगुप्त भी ऐसे ही प्रचारकों में से थे। इनमें से प्रथम का जन्म पेशावर मे और दूसरे का कठियावाड़ के लाटदेश में हुआ था। जिनगुप्त चीन में उस समय पहुँचे थे जब वहाँ की स्थिति डाँवा-डोल हो गयी थी, इस कारण वे यहाँ लौट कर फिर दूसरी बार भी गये। धर्मगुप्त की विशेपता यह थी की वे अपनी चीन यात्रा में बड़ी विकट परिस्थितियों का सामना करते हुए आगे बढ़े थे। ये एक अनुभवी निरीक्षक भी थे। इन्होंने जिस देश वा प्रमुख स्थान का अनुभव प्राप्त किया, उसके विषय में कुछ न कुछ बातें ये लिपिबद्ध भी करते गये थे। इन्होंने अपनी यात्रा के विवरणों में मध्य एशिया संबंधी उन बातों तक की चर्चा की है, जिन्हें ह्वेनसांग भी नहीं जान पाया था। इन दोनों यात्रियों के पश्चात् फिर कुछ धर्म प्रचारक नालंद विश्वविद्यालय से भी गये जिनमें प्रभाकर मित्र का नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध है। प्रभाकर मित्र को अपनी यात्रा में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं और उनका अंत भी कदाचित् उत्साह भंग होने पर ही हुआ था। एक अन्य धर्मप्रचारक बोधिरुचि नाम के भी थे जो दक्षिणी भारत की ओर से चीन गये थे। उन्होंने ५३ ग्रंथों को अनुवादित किया था और बड़ी वृद्धावस्था तक पहुँच कर, ५५ दिनों का उपवास करने के उपरांत ये शांतिपूर्वक मरे थे। शुभाकर सिंह, वज्रबोधि, अमोघवज्र आदि कतिपय अन्य ऐसे धर्म प्रचारक भी थे जो यहाँ के समय समय पर चीन आदि देशों की यात्राएँ करते रहे और जिन्होंने वहाँ पहुँचकर बौद्ध धर्म को सर्वसाधारण तक में प्रचलित करने का सफल प्रयत्न किया। चीन देश में कुछ दिनों तक उपद्रव उठ जाने के कारण ऐसे यत्रियों के कार्य मे यह बाधा पहुँचाने लगी और जहाँ तक पता चलता है, सन् १०३६ ईसवी के अनंतर इस प्रकार के प्रचार कार्य को स्थगित कर देना पड़ा।

प्रसिद्ध चीनी यात्री ईत्सिंग के यात्रा विवरण से पता चलता है कि सातवीं शताब्दी तक बहुत से यात्री चीन से भी भारत आ चुके थे। केवल तीसरी शताब्दी के मध्यकाल में ही, युन्नन एवं बर्मा के मार्ग से बीस

तीर्थयात्री यहाँ आये थे। चौथी शताब्दी के अनंतर चीन में इस प्रकार की यात्राओं को विशेष महत्व दिया जाने लगा। भारतीय बौद्ध धर्म की संस्कृति का अध्ययन चीनियों के लिए एक प्रमुख कर्त्तव्य-सा बन गया। इस ओर विशेष प्रयत्नशील होने वालों मे सर्वप्रथम नाम ताओगन का लिया जाता है, जिसने इस कार्य को अपने जीवन का परमलक्ष्य बना लिया था। उसकी मृत्यु के अनंतर चीन में एक नवीन जागृति-सी दीख पड़ने लगी और चौथी शताब्दी के अंतिम वर्षों तक इस ओर अनेक चीनियों ने अपना ध्यान देना आरंभ कर दिया। इनमें सर्व प्रमुख चीनी तीर्थ यात्री फ़ाहियान था, जिसने अपनी भारत यात्रा सन् ३९९ ईस्वी में आरंभ की। फ़ाहियान यहाँ अपने चार भिक्खु मित्रों के साथ खोतान के मार्ग से चला था। वह पूर्व की ओर बंगाल प्रांत के समुद्र तट तक यात्रा करता हुआ पहुँचा। वहाँ से समुद्र के मार्ग से लंका द्वीप गया तथा वहाँ से भी फिर जावा चला गया। जावा से वह अंत में, सन् ४१४ ईसवी के किसी समय चीन लौटा। उसने अपनी यात्रा की कठिनाइयो का तथा भारतीय धर्म एवं संस्कृति का एक सजीव चित्रण प्रस्तुत किया। फ़ाहियान को संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान था और उसने बौद्ध धर्म के 'विनय' परक सिद्धांतों का अत्यंत गभीर अध्ययन किया था।

फ़ाहियान के अनंतर और भी अनेक चीनी तीर्थ यात्री आये, किंतु उनमें सबसे अधिक समय तक यहाँ ह्वेनसंग ही ठहरा। ह्वेनसग सन् ६२९ ईसवी में भारत की ओर प्रस्थित हुआ था। उसने भी उत्तर पश्चिम के मार्ग से ही यहाँ प्रवेश किया था। मार्ग में आते समय उसे ऐसे तुर्की शासको के प्रदेशो से भी होकर यात्रा करनी पड़ी, जो इसके पहले प्रभाकर मित्र जैसे भारतीय बौद्ध यात्रियों द्वारा प्रभावित हो चुके थे। भारत में उसे संयोगवश दो शक्तिशाली नरेंद्रों का सहयोग उपलब्ध हो गया, जिनमें से एक सम्राट हर्ष थे और दूसरे असम के भास्कर वर्मन थे। वह पाँच वर्षों तक नालंद विश्वविद्यालय में भी रहा जहाँ उसने शीलभद्र से विज्ञानवाद जैसे कठिन विषय का अध्ययन किया। वह अपनी

सोलह वर्षों की यात्रा के अनतर सन् ६४५ ईसवी में चीन लौटा। अपने देश में पहुँचने पर भी वह यहाँ से पत्र व्यवहार करता रहा। उसने अपनी यात्रा का विवरण 'सि-यू-कि' के नाम से प्रस्तुत किया और अपने अंतिम दिना तक व्यस्त रह कर सन् ६६४ ईसवी में मर गया। उसके चीन लौट जाने पर वहाँ के सम्राट ने सम्राट हर्ष के दर्बार में अपना एक राजदूत भी भेजा जिसका नाम लि-पि-पाओ था। उसके इसी प्रकार अपने राजदूत मगध के दर्बार मे भी भेजा और यहाँ पर अन्य कई यात्रियो का भी आगमन हुआ। ह्वेनसंग का यात्रा विवरण तत्कालीन भारत के इतिहास के लिए अत्यंत अमूल्य सामग्री प्रस्तुत करता है और उसे तदनुसार महत्त्व भी दिया जाता है।

ह्वेनसग जैसे महान चीनी यात्रियों के साथ ईत्सिंग का भी नाम लिया जाता है, जिसका उल्लेख इसके पहले हो चुका है। ईत्सिंग के लिए प्रसिद्ध है कि चीन के बौद्ध विद्वानों मे वह केवल ह्वेनसग से ही कुछ कम योग्य रहा होगा। ईत्सिंग की भारत यात्रा सन् ६७१ ईसवी मे आरंभ हुई थी, किंतु यहाँ पर वह सुमात्रा द्वीप से होता हुआ पहुँचा था। वह १० वर्षों तक नालद में अध्ययन करता रहा और जब सन् ६९५ ईसवी में वह चीन लौटा तो उसके पास प्रायः चार सौ सस्कृत ग्रंथों की हस्त-लिखित प्रतियाँ सुरक्षित रहीं। उसकी प्रमुख रचनाओं में मूल सर्वास्ति-वाद-संबंधी एक वृहद् ग्रंथ का अनुवाद एवं संस्कृत-चीनी शब्दकोश विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ईत्सिंग के अनंतर जो चीनी यात्री यहाँ आये उनके नाम बहुत प्रसिद्ध नहीं हैं। यहाँ पर केवल वु-कंक की चर्चा की जा सकती है जो अपने देश से, सन् ७५१ ईसवी में, उस समय चला था जबकि वह स्वयं बौद्ध धर्म का अनुयायी नहीं था। उसने मार्ग मे इस धर्म को स्वीकार किया और फिर बहुत दिनों तक इधर के नगरों मे भ्रमण करता हुआ अपने देश को लौट सका। इस समय तक चीन में बौद्ध धर्म का बहुत कुछ प्रचार हो चुका था। दोनों देशो के बीच आने जाने का एक ऐसा दृढ़ संबंध स्थापित हो चुका था, जिसका किसी भी

प्रकार टूटना असंभव था। चीन देश ने बौद्ध धर्म को क्रमशः अप
निजी धर्म के रूप में अपना लिया और इसका विकास वहाँ प्रायः स्वत
रूप में होने लगा। इस परिणाम तक उसके पहुँचने में दोनों देशों
उपर्युक्त यात्रियों ने उसके साथ कितना हाथ बँटाया होगा इसका निश्चि
अनुमान किया जा सकता है। कहते हैं कि ईसवी छठीं शताब्दी तक
चीन के उत्तर पश्चिम वाले प्रायः सभी प्रांतों ने बौद्ध धर्म को किसी
किसी रूप में स्वीकार करा लिया था।

फिर भी उस समय तक यह धर्म अधिकतर उच्च वर्ग के लोगों
ही अध्ययन एवं अनुसरण का विषय समझा जाता रहा। उक्त निर
धर्म के रूप में यह उस समय से परिणत होने लगा जब सन् ५२० ईसव
में चीन पहुँचने वाले बोधि धर्म नामक कंजीवरम् (मद्रास) के निवा
एक भारतीय ने वहाँ अपना प्रचार-कार्य आरंभ किया। फलतः उस
एक नये संप्रदाय की स्थापना हो गयी। चीनी बौद्ध धर्म को फिर सब
अधिक प्रोत्साहन तांग वंशीय राजाओं के शासन काल (सन् ६२०-६०५
में भी मिला। इस समय से यह धर्म वहाँ पर पूर्ण रूप से जम गया
इस पर यदि कभी कोई आघात पहुँचा तो वह उसी समय ज
यहाँ के शासकों का अपना धर्म कनफ्यूशियन अथवा किसी अन्य प्रका
का हो जाता रहा। वे इसकी उन्नति की ओर से उदासीन हो जा
रहे। मिंगवंशीय शासकों के युग (सन् १३६८-१६४४ ईसवी) में बोधि
धर्म द्वारा प्रवर्तित उक्त 'चान' संप्रदाय अपनी उन्नति के शिखर प
पहुँचाया। इसके अनन्तर मंचुओं के शासन-काल इसे समुचित प्रोत्साह
नहीं मिल सका और कनफ्यूशियन धर्म को अधिक महत्त्व दिया जा
लगा। फिर भी, जैसा यहाँ के बौद्धधर्म के अंतर्गत प्रतिष्ठित होने वा
विविध संप्रदायों तथा उप संप्रदायों के इतिहास से पता चलेगा, इसमें
केवल बाह्यरूपों में ही कुछ परिवर्तन होकर रह गया। इसकी मूल
प्रवृत्तियों में कोई ऐसा विपर्यय नहीं हुआ, जिससे यह वहाँ से समूल नष्
हो जाय। कुछ संप्रदाय भारतीय बौद्ध धर्म ग्रंथों के आधार पर स्थापित हुए,

अन्य ऐसे थे जिनका भी कुछ न कुछ संबंध भारतीय विचारधारा से ही था।

चीन देश के इन सम्प्रदायों में से केवल दो ही ऐसे हैं जिनमे थेरवाद अर्थात् हीनयान के सिद्धांतों का, सम्यक प्रकार से अध्ययन किया जाता है। शेष का संबंध महायान के साथ अधिक स्पष्ट है और कुछ ऐसे भी हैं जो पूर्णरूप से स्वतंत्र समझ पड़ते हैं। हीनयान से संबंधित इन दोनों संप्रदायों में से एक का नाम 'लुत्सुंग' है और दूसरे का 'चेंगशिहत्सुंग' है। 'लुत्सुंग' का प्रमुख आधार 'विनय पिटक' है। ग्रंथों अथवा वादों पर आश्रित संप्रदायों में से बहुत से महायान संप्रदाय से संबंधित हैं। 'हुआएनत्सुंग' एक ऐसा संप्रदाय है जिसका आधार 'अवतंसकसूत्र' है। तिएन-ताइत्सुंग' एक दूसरा है जो 'सद्धर्मपुंडरीक सूत्र' पर आश्रित है। इसी प्रकार 'सानलुन' का स्पष्ट संबंध नागार्जुन के 'माध्यमिक' वाद से है, जहाँ 'धर्मलक्षण' योगाचार के मत का अनुसरण करता है। चीन का एक अन्य संप्रदाय 'चेन-येन' भी है जिसे हम भारतीय मंत्रयान पर आश्रित कह सकते हैं। किंतु जिस पर कुछ अंशों में तिब्बतीय तंत्र-साधना का भी प्रभाव पड़ चुका है। यह संप्रदाय चीन देश में, ईसा की आठवीं शताब्दी में, पहुँचा था और यह क्रमशः चारों ओर फैल गया। इन सम्प्रदायों ने भारतीय विचारधारा का मनन अधिकतर पूर्वागत परंपरानुसार ही किया और उसी के सहारे इन्होंने आगे की ओर भी प्रगति की। इनमें कोई ऐसी विशेषता लक्षित नहीं होती, जिनके कारण इन्हें किसी प्रकार स्वतंत्र भी समझा जाय।

चीन देश में महायन संप्रदाय द्वारा प्रभावित, किंतु उससे कुछ दूर तक भिन्न एवं स्वतंत्र रूप में प्रतिष्ठित, संप्रदाय 'लुशन' के नाम से जुड़ा हुआ है। जो, वास्तव में, एक पहाड़ी भूमि है जहाँ बौद्ध भिक्खु प्रायः साधना किया करते थे। यहाँ पर 'हुई युअन' द्वारा स्थापित एक मठ वर्तमान है, जिसके प्रारंभिक रूप का निर्माण ईसवी सन् के ३८१वें वर्ष में हुआ था। हुईयुआन ताओगन का शिष्य था जिसकी बड़ी प्रसिद्धि हुई। उससे दीक्षित होने के लिए चीनी एवं भारतीय साधक भी एकत्र

होने लगे। हुई युआन के १२३ शिष्य थे जिनमें से केवल १७ को चुन कर उनके साथ उसने अपना 'श्वेत कमल का संप्रदाय' चलाया। इसे चीनी भाषा में 'पोलिएनशु' कहा जाता है। उसके १७ शिष्यों में दो भारतीय विद्वान थे, जिनमें से एक काश्मीर निवासी बुद्धयशस् थे और दूसरे शाक्य वंशीय बुद्धभद्र थे जिनकी चर्चा इसके पहले भी की गयी है। हुईयुआन से इस ,संप्रदाय ने चीन देश में पहले पहल अमिताभ की उपासना बतलायी। वह संस्कृत भाषा का एक बहुत बड़ा पंडित था। कुमार जीव के साथ उसका पत्र-व्यवहार बहुत दिनों तक चलता रहा तथा संस्कृत ग्रंथों की खोज में उसने अपने अनेक शिष्य भेजे थे। हुई-युआन द्वारा प्रचलित की गयी बोधिसत्व अमिताभ की उपासना इतनी जनप्रिय हुई की इसका प्रभाव चीन के अन्य ।कई संप्रदायों पर भी बिना पड़े नहीं रह सका और वे क्रमशः एक प्रसिद्ध देवता के रूप में पूजे जाने लगे। यह संप्रदाय भारतीय महायान से कई बातों में स्वतंत्र था। हुई युआन के अनुयायियों में से बहुत से ऐसे थे जिन्होंने उसके संप्रदाय में कुछ सुधार भी किये। तदनुसार उसके आधार पर, अंत में, 'चिंगतु' मत अर्थात् 'पवित्रग्राम' वाले संप्रदाय का प्रचार भी होने लगा जिसके लिए धर्मग्रंथों का महत्व प्रायः कुछ भी नहीं रह गया। यह संप्रदाय शुद्ध आस्तिक भाव का समर्थक था, जिस कारण इसने चीनी जनता के सर्वसाधारण अंगो को भी आकृष्ट कर लिया।

चीन देश का एक अन्य ऐसा ही संप्रदाय 'चान' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'चान' शब्द संस्कृत शब्द 'ध्यान' का रूपांतर है और इसका मुख्य अभिप्राय ध्यान पूर्वक किसी वस्तु की तह तक पहुँच जाने से है। यह संप्रदाय अपने प्रारंभिक रूप में, कंजीवरम् (मद्रास) के निवासी बोधिधर्म द्वारा स्थापित किया गया था, जिसके नाम का उल्लेख इसके पहले भी किया जा चुका है। 'चान' संप्रदाय का दार्शनिक आधार न्शून्यता की भावना में निहित है। इसकी प्रमुख साधना एक मनो-वैज्ञानिक तथ्य की ओर संकेत करती है। बोधिधर्म के लिए प्रसिद्ध है कि

वे गौतम बुद्ध से २८वीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे। उनकी प्रतिष्ठा देव रूप में की जाती है। चीनी बौद्धों के धार्मिक ग्रंथों में उनकी अनेक सिद्धियों के विवरण पाये जाते हैं और उनके चमत्कारों में श्रद्धालुओं को पूर्ण विश्वास भी है। इस संप्रदाय के ध्यानयोग में विश्व के सभी बाह्य पदार्थों की भावना का परित्याग कर एकमात्र स्वयं अपने शुद्ध मनोव्यापार पर ही ध्यान को केंद्रित करना पड़ता है। इसी के अंतिम परिणाम के ऊपर अपने लक्ष्य की सिद्धि का निर्भर रहना भी बतलाया जाता है। फलतः इसे हम केवल 'शून्य' का ध्यान भी कह सकते हैं जो वास्तव में, बौद्धों के निर्वाण विषयक धारणा का भी परिचायक है। नागार्जुन के शून्यवाद एवं असंग तथा वसुबंध के योगाचार संबंधी दर्शनों में इस पर अपने अपने ढंग से विभिन्न विचार प्रकट किये गये हैं।

बोधिधर्म के शिष्यों में दो बहुत प्रसिद्ध हुए जिनमें से एक का नाम 'हुई सी' था और दूसरे का 'चिकाइ' था। इनमें से पहले ने जहाँ अपने गुरु के मूल मत का प्रचार किया वहाँ दूसरे ने उसके आधार पर 'तियेनताइ' नामक एक नवीन संप्रदाय की स्थापना कर दी। चिकाइ का जन्म सन् ५३१ ईसवी हुआ था। उसने सर्वप्रथम, बोधिधर्म द्वारा बतलाये गये ध्यानयोग का ही अभ्यास किया था। किंतु जब वह नैंकिंग से बाहर तियेनताइ की उपत्यका में जाकर बौद्धधर्म के प्रामाणिक ग्रंथों का गंभीर अध्ययन कर चुका तो उसे बहुत-सी बातें सूझ पड़ीं। उसने उनमें उपलब्ध अनेक असंगतियों में समन्वय लाने का भी प्रयत्न किया। उसका कहना था कि 'दार्शनिक सिद्धांतों में सर्वत्र मतभेद दीख पड़ते हैं, किंतु फिर भी सबका अंतिम उद्देश्य परम सत्य को प्राप्त करना ही रहा करता है। साधना चाहे जिस प्रकार की हो सत्य की अभीष्ट उपलब्धि का पूरा हो जाना ही वास्तविक महत्व रखता है और विभिन्न मार्गों के मतभेदों में समन्वय भी लाया जा सकता है।'[१]

---

[१] डा० पी० सी० बागची : इंडिया एंड चाइना, १११

तदनुसार उसने तथागत के मूल उपदेशों का अध्ययन, उनके क्रमिक विकास की दृष्टि से किया। वह इस परिणाम पर पहुँचा कि हीनयान एवं महायान के मूलभूत सिद्धांतों में कोई वास्तविक वैषम्य नहीं है, प्रत्युत महायान में बौद्ध धर्म की अंतिम परिणति का रूप लक्षित होता है। उसने लुशन की भी यात्रा की और वहाँ पर हुई युआन द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय का भी अध्ययन किया। चिकाइ के मंतव्यों का चीन में इतना बड़ा प्रभाव पड़ा कि हीनयान के प्रति उस काल तक प्रदर्शित किये जाने वाले वैमनस्य का भाव क्रमशः लोप हो गया। गौतम बुद्ध की शिक्षा का काल क्रमानुसार, सिद्धांतानुसार तथा व्यावहारिक दृष्टि से भी सांगोपांग अध्ययन करना आवश्यक समझा जाने लगा।

ईसा की सातवीं के प्रारंभिक दिनों से ही चीन में प्रचलित बौद्ध धर्म के इतिहास में नवीनता दीख पड़ने लगी थी। तांगवंशी सम्राटों ने प्रयत्नों द्वारा सारे देश के सूत्र में बद्ध हो जाने के कारण उसके स्वर्ण युग का अवसर उपस्थित हुआ। किंतु इसी समय यहाँ के बौद्ध धर्म की प्रगति में बहुत बड़ी बाधाओं की भी आशंका होने लगी और इसके कतिपय विरोधियों ने अपना प्रचार भी आरंभ कर दिया। फु-ची (सन् ५५५-६३६) जो इस आंदोलन का नेतृत्व कर रहा था। वह एक प्रभावशाली व्यक्ति था और उसने स्वयं सम्राट् को भी उभाड़ना चाहा। किंतु उसे अपने प्रयत्नों में पूरी सफलता नहीं मिल सकी। बौद्धों का दमन-चक्र केवल कुछ काल तक ही चल कर बंद हो गया। उस काल के शासकों ने बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया और अपने पड़ोसी बौद्ध राज्यों की नीति एवं ह्वेनसंग जैसे योग्य बौद्ध यात्रियों के उद्योगों के महत्व को ध्यान मे रखते हुए, उन्होंने अपने दमन-चक्र को अधिक समय तक चलाना उचित नहीं समझा। ह्वेनसंग स्वय योगाचार के सिद्धांतों का समर्थक था और एक कट्टर महायानी था। किंतु उसने तियेनताइ संप्रदाय के प्रति भी सद्भाव दर्शाया। उसके अपने निजी मत का नाम 'धर्म लक्षण' था जिसके के अनुसार 'विज्ञान' ही एक मात्र

सत्य है और अन्य सभी कुछ भ्रमात्मक है। किंतु उसके द्वारा एक अन्य नवीन मत की भी स्थापना हुई जिसे कि उ-शे अर्थात् 'कोश' नाम दिया जाता है। यह शब्द संस्कृत शब्द 'अभिधर्म-कोश' का सन्निप्त रूप है जो हीनयान के सर्वास्तिवाद संप्रदाय के सिद्धांतों के परिचायक प्रसिद्ध ग्रथ का भी नाम है। ह्वेनसंग के एक शिष्य ताओ सिउआन ने इसी प्रकार, एक अन्य नवीन मत की भी स्थापना की जो लिउ अथवा विनय संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस संप्रदाय का प्रमुख उद्देश्य नियमित आचरणों का प्रचार करना था।

चीन के बौद्ध धर्म पर भारतीय तंत्रयानों अर्थात् वज्रयान, कालचक्रयान एवं सहजयानादि का प्रभाव भी बिना पड़े नहीं रह सका। प्रसिद्ध है कि ऐसे मतों का वहाँ प्रचार करने वाले वज्रबोधि एवं अमोघ वज्र थे, जो भारत से ही गये थे। इन्होंने वहाँ पर जिस संप्रदाय की स्थापना की उसके अनुसार काम, वाक् एवं मन इन तीनों के रहस्यों के महत्व का ज्ञान हो जाना सभी के लिए आवश्यक है। यदि इस प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि से पूर्ण मानसिक विकास हो जाय तो कोई भी बुद्धत्व को प्राप्त कर सकता है। चीन में इस मत ने वहाँ के कनफ्यूशियन धर्म को भी बहुत प्रभावित किया और उसमें, इसके कारण, कतिपय नवीन विचारों का समावेश हो गया। किंतु इस का, वहाँ पर एक नितांत विपरीत परिणाम भी दीख पड़ने लगा। इसके कारण, बौद्ध धर्म की अवनति भी आरंभ हो गयी। बौद्ध धर्म का स्वरूप जो अभी तक सामुदायिक संगठनों के आधार पर प्रतिष्ठित था, क्रमशः व्यक्तिगत महत्व का पोषक बन गया और ताग-वंशी सम्राटों के अंतिम शासन काल से लेकर सोंग-वंशी शासकों के प्रारंभिक दिनों तक ही इसका पूरा परिणाम स्पष्ट हो चला। फिर भी इस धर्म को वहाँ वैसे दिन देखने को नहीं मिले जैसे भारत में मिल चुके थे। यह वहाँ पर आज भी सजीव बन कर ही वर्तमान है।

बौद्ध धर्म चीन से कोरिया की ओर, सर्वप्रथम, उसकी लिपि के ही

साथ,सन् ३७२ ईसवी के लगभग पहुँचा था। यह वहाँ पर कई शताब्दियों तक प्रचलित रहा, किंतु कनफ्यूशियन धर्म का अधिक प्रभाव पड़ जाने के कारण, इसमें वहाँ पर कोई विशेष उन्नति नहीं हो सकी। इसे 'सिला' के राज्य-काल मे अधिक शक्तिग्रहण करने का अवसर मिला जब कि वहाँ के शासक ने सन् ५२८ ईसवो में स्वयं इसे अपना लिया। इस समय कोरिया का भारत, तिब्बत एवं एशिया के अन्य भागों के साथ व्यापारिक संबंध भी अच्छी दशा में चल रहा था। वांग वश के राजाओं के शासन-काल में वहाँ कुछ विहारों का भी निर्माण हुआ, किंतु यह क्रम अधिक दिनो तक स्थायी न रह सका। सन् १२५० ई० के अनंतर इसे विवश होकर ह्रासोन्मुख भी बन जाना पड़ा और इसके विरुद्ध दमन चक्र तक चलने लगा। किंतु इसका एक परिणाम यह हुआ कि अनुयायियों की संख्या वृद्धि के रुक जाने पर भी, इसके सच्चे साधकों के उत्साह में कभी कमी नहीं आ सकी। कोरिया मे बौद्धो के 'विनय' अथवा आचरणवाद को सर्वाधिक महत्व दिया गया जो आज तक भी वहाँ की विशेषता के रूप में प्रतिष्ठित है। फिर भी बौद्ध धर्म के इतिहास में कोरिया को एक महत्व इस कारण भी दिया जाता है कि उस धर्म का प्रचार यहीं से जापान में भी हुआ था। प्रथम महायुद्ध के अनंतर, इस देश पर अधिकार कर लेने पर जापानियों ने इस धर्म का वहा एक बार पुनरुत्थान भी कर दिया है।

बौद्ध धर्म ने कोरिया से जापान में सन् ५५२ ईसवी मे प्रवेश किया और प्रारंभिक दिनों मे इसे कुछ विरोधों का भी सामना करना पड़ा। किंतु इसके प्रचारको को पीछे प्रसिद्ध शोटोकू तैशी (सन् ५६३-६२२) जैसे महान् पुरुष की ओर से बल मिल गया और ये फूलने-फलने लगा। इन्होंने अपने यहाँ नारा नामक नगर को सुव्यवस्थित रूप दिया और सन् ६०७ ईसवी में होर्युजी नामक एक बौद्ध मंदिर भी तैयार कराया। इसके सिवाय इन्होंने 'सद्धर्मपुंडीक', 'विमल कीर्ति सूत्र' एवं 'श्रीमाला सूत्र' पर भाष्यों का भी निर्माण किया। शोटोकू तैशी ने इस प्रकार, जापान में बौद्ध धर्म के जमने में अच्छी सहायता की और उनके कारण वहाँ के

राजकर्मचारियो तथा प्रजावर्ग में भी उत्साह बढ़ा। जापानी बौद्ध धर्म की प्रायः सभी शाखाएँ चीन अथवा कोरिया की ओर से आयी हैं; केवल निचिरेन एवं शिन इसके अपवाद हैं। इन सभी पर समयानुसार कभी शिंतो और कभी कनफ्यूशियन धर्मों का प्रभाव पड़ता रहा है। चीन में बौद्ध धर्म के लिए राजकीय सहायता अपेक्षित नहीं समझी गयी थी, किंतु जापान में इसे स्पष्टरूप में ऐसा प्रश्रय मिलता गया। जिस प्रकार लंका-द्वीप, श्याम एवं बर्मा को हम थेरवाद मत का बौद्ध देश कहते हैं, उसी प्रकार जापान भी महायानी बौद्ध धर्म का देश कहला सकता है। चीन देश में यह धर्म बड़े व्यापक रूप में प्रसरित हुआ, किंतु यह क्रमशः वहाँ की प्राचीन धार्मिक संस्कृति के प्रभाव में विलीन भी होता जा रहा है। जापान ही उधर एक ऐसा देश है, जहाँ महायान के प्रत्येक पार्श्व के अवशिष्ट अंश आज तक विद्यमान कहे जा सकते हैं।

जापान में प्रवेश करते समय बौद्ध धर्म का कोई निश्चित रूप नहीं था और जिस समय से चीनी बौद्ध पंडितों का जापान जाना तथा इसी प्रकार, जापानियों का चीन जाना आरंभ हुआ तब से इस धर्म के दो भिन्न-भिन्न रूप भी दीख पड़ने लगे। किंतु शोटोकू जैसे महापुरुषों की छत्रछाया में रहते आने के कारण, उन दोनों वर्गों में किसी प्रकार के संघर्ष का अवसर नहीं मिला। जान पड़ता है कि चीन की ओर से यहाँ पर पाँच विभिन्न संप्रदायों का प्रवेश हुआ जो नारा नगर की राजधानी में ही प्रतिष्ठित हुए। इनमें से कुश, जोजित्सु एवं विनय नामक संप्रदाय ऐसे थे, जिनका मूल संबंध थेरवाद के साथ था। चीन में जो बौद्ध संप्रदाय कि-उ-शे अर्थात् 'कोश' के नाम से प्रसिद्ध था वहीं जापान में आकर 'कुश' नाम से अभिहित किया जाने लगा। यह 'अभिधर्मकोश' पर आश्रित था। जोजित्सु का भी संबंध, इसी प्रकार, हीनयानियों के सौत्रां-तिक संप्रदाय के साथ रहा और इसे 'सत्यसिद्धि' का नाम भी दिया गया। इस संप्रदाय के मूलप्रवर्तक हरि वर्मा नाम के एक भारतीय पुरुष के जो मध्यभारत के निवासी थे। उन्होंने 'सत्यसिद्धि शास्त्र' की रचना की

थी। इस ग्रंथ का मूल संस्कृत रूप उपलब्ध नहीं है। इसके केवल चीनी एवं तिब्बती अनुवाद ही मिलते हैं। हरि वर्मा ने सर्वास्तिवादियों के मत का खंडन किया है और इस प्रकार, वे उक्त कुश संप्रदाय के भी विरोधी हैं। जापान का विनय अथवा रित्सु नामक सप्रदाय चीन के लुत्सुंग सप्रदाय का ही जापानी संस्करण है और इसमें बौद्धों के आचरणवाद को महत्व दिया गया है।

चीन से जापान में आये हुए महायानी संप्रदायों में से भी कभी-कभी केवल तीन के ही नाम लिये जाते हैं। इनमें से एक 'होसो' नाम का है, जो चीन में 'योगाचार' अथवा 'धर्म लक्षण' के भी नाम से प्रसिद्ध था और जिसका केंद्र होर्युजी के बौद्ध मंदिर में प्रतिष्ठित है। एक दूसरे ऐसे संप्रदाय का नाम 'सानरोन' है जिसका मूल आधार माध्यमिक सूत्र है, किंतु जिसके मूल चीनी रूप का स्पष्ट पता नहीं चलता। नारा नगर के अंतिम बौद्ध सप्रदाय का जापानी नाम 'केगोन' है, जो चीन के 'अव-तंसक सूत्र' पर आश्रित 'हुआयेनत्संग' का प्रतिनिधित्व करता है। यह सप्रदाय जापान में वस्तुतः होसो के आधार पर ही विकसित हुआ था और इसका प्रधान केंद्र 'तोदाइ जी' नामक बौद्ध मंदिर है। इस मदिर के लिए कहा गया है कि इतना बड़ा एक ही काष्ठ का बना हुआ भवन अन्यत्र कहीं भी नहीं है। केगोन संप्रदाय के अनुसार यह सारा विश्व 'सियागची' एव 'सियांगजु' के संबध सूत्रों के आधार पर हमारे पूर्ण अनुभव में आ सकता है। सभी पदार्थ, दिशा एवं काल के भ्रमात्मक इंद्रजालों के प्रभाव में, हमें पृथक् जान पड़ते हैं। किंतु तथ्य यह है कि उनमें से सभी एक दूसरे में अनुस्यूत और एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित भी हैं। इद्र के स्वर्गीय महल में जो अमूल्य रत्नों का बना 'इंद्रजाल' टँगा है उसका प्रत्येक रत्न दूसरे में एक ही प्रकार प्रतिबिंबित होता रहता है। अतएव किसी भी एक रत्न को उस जाल से पृथक् करने पर हमें उसमें एक ही साथ सारा जाल और प्रत्येक रत्न भी प्रतिबिंबित मिलता है। प्रत्येक क्षण में अनतकाल विद्यमान है और तदनुसार हमारे प्रत्येक जीवन

में नित्यता भरी है। दिक् तत्व की दृष्टि से देखने पर भी पता चलता है कि प्रत्येक क्षेत्र विंदु विश्व का केंद्र है और यह हमारे भीतर भी एक समान ही वर्तमान है। दिक् तत्व एवं काल तत्व स्वयं एक दूसरे में अनुस्यूत हैं।

सन् ७८४ में किसी समय तत्कालीन जापान सम्राट् क्वामू ने अपनी राजधानी नारा से हटा कर अन्यत्र, स्थापित की जो स्थान क्वोटो नाम से प्रसिद्ध हुआ। पता चलता है कि उस समय नारा के बौद्ध सम्प्रदायों में पारस्परिक मतभेद की मात्रा बहुत बढ़ गयी थी, जिसे वे दूर भी कर देना चाहते थे। उनके इस उद्देश्य की सिद्धि मे दो जापानी बौद्ध विद्वानों ने अपने हाथ बँटाये और इन्होंने दो तदनुकूल सम्प्रदायो की भी स्थापना कर दी। सायचो अथवा डेंग्यो डायशी ने तेंदई संप्रदाय का प्रवर्तन किया और कुकई अथवा कोवो डायशी ने शिंगोन संप्रदाय चलाया। इन दोनों प्रचारकों के प्रयत्नों द्वारा जापानी बौद्ध धर्म मे बहुत कुछ एकसूत्रता आ गयी और उसका सबंध राज्य के साथ भी दृढ़ हो गया। डेंग्यो डायशी का तेंदई संप्रदाय वस्तुतः चीनी तियेंताई का ही जापानी रूप है और उसकी चर्चा चीन देश के सबंध मे इसके पहले भी की जा चुकी है। डेंग्यो ने नारा के संप्रदायों से संबंध विच्छेद करके क्वोटो के निकट वर्तमान किसी एक पहाड़ी पर अपना मठ बनाया और वहाँ रह कर उसने 'सद्धर्म पुंडरीक' मे निहित सिद्धांतों पर बहुत दिनों तक मनन किया। जापान के सम्राट् को जब उसके गंभीर अध्ययन का पता चला तो उन्होने उसे विशेष अनुभव प्राप्त करने के लिए चीन में भेजा जहाँ के तियेंताइ पर्वत पर उसने अपना निवास स्थान बनाया। चीन से फिर लौटने पर ही उसने अपने तेंदई संप्रदाय की नीवॅ डाली जिसमें उसने विभिन्न बातो का समन्वय भी कर दिया।

कोवो डायशी डेंग्यो का समकालीन था, किंतु अवस्था में उससे छोटा था। वह एक प्रतिभाशाली पुरुष था और उसने अपनी युवावस्था में ही कनफ्यूशियन धर्म, ताओ धर्म एवं बौद्ध धर्म का एक तुलनात्मक

अध्ययन प्रस्तुत किया था। डेंग्यो की चीन यात्रा से प्रभावित होकर इसने स्वयं भी उसका अनुकरण किया और बहुत दिनों तक वहाँ की धार्मिक स्थिति का अध्ययन करता रहा। जापान लौट कर उसने कोया पर्वत को अपना प्रधान केंद्र बनाया और तत्कालीन राजनीतिक प्रभावों से अपने को पृथक् रखे रहा। इसने अपने शिगोन संप्रदाय के अंतर्गत उन सभी बातों का समावेश कर लिया जो भारत के तंत्रयान से सबंध रखती थीं। चीन देशीय बौद्ध धर्म की चर्चा करते समय पहले कहा जा चुका है कि किस प्रकार वहाँ पर वज्रबोधि एवं अमोघवज्र ने उसका प्रचार किया था। कोबो ने भी महा वैरोचन सूत्र एवं 'वज्र शेखरसूत्र' का गंभीर अध्ययन करके उसके आधार पर अपना शिंगोन संप्रदाय चलाया। चीन में तंत्रयान का प्रभाव उतना गहरा नहीं पड़ा, जितना वह जापान में लक्षित हुआ और वह आज भी प्रायः उसी प्रकार विद्यमान है। तेंदई और शिंगोन दोनो वहाँ एक दूसरे के पूरक रूप में काम करने वाले संप्रदाय सिद्ध हुए। दोनो ने बौद्ध धर्म को सर्वसाधारण तक पहुँचाया। तेंदई ने राजकीय सबंधो के कारण स्थानीय राजनीतिक विवादो में भी कुछ भाग लिया, किंतु उसने इसके साथ ही उसमें धार्मिकता भी ला दी। शिंगोन सप्रदाय वस्तुतः चीनी 'चेन येनत्सुंग' का ही एक पूर्वी रूप था और इसका अपने सुधरे रूप में एक बार फिर चीन देश मे प्रचार हुआ।

चीन देश में जिस प्रकार 'चिंगतु' अर्थात् 'पवित्रधाम' का सप्रदाय स्थापित हुआ था उसी प्रकार जापान में 'जोदो' संप्रदाय चला। इसका मूल आधार भारतीय महायान की इस धारणा पर आश्रित है कि यदि बुद्ध के नाम का जप किया जाय तो हमें 'सुखावती' धाम उपलब्ध हो जाय। सुखावती का धाम वह काल्पनिक लोक है, जहाँ सभी प्रकार के सौख्य को प्राप्ति आप से आप हो जाती है। यह जप-साधना की शिक्षा केवल उन व्यक्तियों को ही देना चाहता है, जो उक्त कल्पना में दृढ़ विश्वास रखते हों। इसी कारण, इसका प्रचार भोले भाले लोगो मे ही संभव है। इस सप्रदाय के लिए किन्हीं धर्मसूत्रो के गंभीर अध्ययन अथवा मनन

की आवश्यकता नहीं है। चीन का चिंगतु संप्रदाय ईसाकी चौथी शताब्दी में ही स्थापित हुआ था, किंतु जापान में इसका अधिक प्रचार कूय शोनिन द्वारा उसकी दसवीं शताब्दी में हुआ। इस जोदो संप्रदाय को पूर्णतः सुव्यवस्थित रूप देने वाले होनेन शोनिन (सन् ११३३-१२१२) थे, जिन्होंने इसकी स्पष्ट व्याख्या के लिए जापानी एवं चीनी में भी ग्रंथ लिखे। उनका कहना था कि प्रत्येक साधक के लिए अमिताभ (अमिद) में अटूट श्रद्धा का रखना और उसके प्रति आत्मसमर्पण का भाव अनिवार्य है। इसके लिए किसी प्रकार के दार्शनिक चिंतन अथवा पूजन-विधान की कोई आवश्यकता नहीं। जोदो संप्रदाय के अनुयायी अपने को अनेक पातकों से युक्त मान कर अमिद की शरण में जाते हैं और उनके नाम-स्मरण द्वारा उनसे मुक्त हो जाने में विश्वास रखते हैं। इस मत की कई बातें भारतीय वैष्णव धर्म की भक्ति-साधना वाले सिद्धांतों से मिलती-जुलती हैं। सुखावती विषयक धारणा में भी हमें 'वैकुंठ' 'साकेत' अथवा 'गोलोक' जैसे स्वर्गीय धामों की कल्पना का सादृश्य दीख पड़ता है और उसे वहाँ अत्यंत आकर्षक रूप भी दिया गया है।

परंतु जिस प्रकार उक्त जोदो संप्रदाय के लिए श्रद्धालुओं की एकांत-निष्ठा अपेक्षित है, उसी प्रकार ज़ेन संप्रदाय आत्मनिर्भरता का समर्थक है। 'ज़ेन' शब्द जापानी है और यह क्रमशः चीनी 'चान' एवं संस्कृत के 'ध्यान' शब्दों का रूपांतर है। चीन के चान संप्रदाय की चर्चा इसके पहले की जा चुकी है और कहा जा चुका है कि किस प्रकार उसमें ध्यान-योग को महत्व दिया जाता है। जोदो संप्रदाय वालों को यदि, अपनी असमर्थता के कारण, दार्शनिक चिंतन अथवा अध्ययन की आवश्यकता नहीं पड़ती, वहाँ ज़ेन वाले उसे अनावश्यक समझ कर छोड़ देते हैं। ज़ेन जहाँ जिरिकी (निजी प्रयत्न) को सब कुछ मानता है वहाँ जोदो मत तारिकी (पर प्रयत्न) पर निर्भर हो जाने को ही पूर्ण महत्व प्रदान करता है। चीन देश में चान संप्रदाय के रूप में लगभग ५०० वर्षों तक विकसित हो चुकने पर यह वहाँ से जापान में पहुँचा। इसका अंतिम

उद्देश्य बुद्धि से भी सहायता न लेकर केवल सहजाव बोध द्वारा सत्य का अनुभव कर लेना है। बुद्धि के द्वारा किसी वस्तु के विषय में ज्ञान अवश्य हो जा सकता है, किंतु इससे उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं हो पाती और न, इसी कारण, हमें उसका पूरा बोध हो पाता है। इसके लिए पहले प्रत्येक धारणा का पूर्ण परित्याग हो जाना चाहिये। हमारा चित्त इतना शुद्ध एवं निर्मल हो जाना चाहिए जिससे अभीष्ट पदार्थ पूर्ण रूप में ग्रहण किया जा सके। इस संबंध में एक उपयुक्त प्रसंग का उल्लेख कर देना कदाचित् अनुचित नहीं कहा जा सकता। दो भिक्षु कहीं से अपने मठ की ओर लौट रहे थे। मार्ग मे एक नाला मिला, जिसके जल में अपने कपड़े भीगने के भय से कोई सुंदरी बालिका उसके किनारे खड़ी थी। उनमे से एक भिक्षु ने उसे अपनी गोद मे उठा लिया और उसे नाले के दूसरे पार कर दिया। किंतु दूसरे को यह बात अनुचित जान पड़ी और वह इसे मीलों तक सोचता रहा। इसके प्रश्न करने पर प्रथम भिक्षु ने उत्तर दिया "क्यो ! उस लड़की को तो मैने वहीं छोड़ दिया ! क्या तुम उसे अभी तक अपने साथ लिये जा रहे हो !"

ज़ेन संप्रदाय के आचार्यों ने अपनी सहजाव बोध विपयक साधना के लिए कुछ युक्तियाँ भी बतलायी हैं। इनमें से दो ऐसी हैं जिनका उल्लेख बहुधा, इसके विपय में लिखे गये कई ग्रंथों में मिलता है। प्रथम युक्ति को जापानी भाषा मे 'मोंदो' कहते हैं। इसमें संप्रदाय के गुरु एवं शिष्य आपस मे, शीघ्रता के साथ, प्रश्नोत्तर करते हैं और इसी क्रम के द्वारा अभीष्ट की सिद्धि हो जाती है। यदि कोई शिष्य, वास्तव में, सच्चा जिज्ञासु हो तो वह पहले से ही अपने विपय पर गंभीर चिंतन कर चुका रहेगा। इस कारण जब कभी वह अपने गुरु से प्रश्न करेगा तो उसके प्रश्न में ही उस गुरु को उसकी वास्तविक दशा का परिचय मिल जायगा। वह फिर उससे इस प्रकार के प्रश्नोत्तर आरंभ कर देगा, जिससे शिष्य को अभीष्ट तत्व का आप से आप बोध हो जाय। एक दूसरी युक्ति 'कोआन' नाम की है जो, कदाचित् उस पहली युक्ति का ही एक संक्षिप्त रूप है

और उसकी व्याख्या करना अत्यंत कठिन है।[1] जेन संप्रदाय के साधकों का तो यहाँ तक कहना है कि जो बात गहरे आत्मचिंतन द्वारा सभव नहीं, वह किसी साधारण हास्य, पुकार, कंपन अथवा आघात मात्र से भी जानी जा सकती है। किसी विकट प्रश्न के उत्तर में भी 'कोआन' की युक्ति वाले केवल 'मू' शब्द के उच्चारण मात्र से काम ले लेते हैं, जिसका अर्थ 'नहीं' से अधिक नहीं। ज़ेन की युक्तियाँ उस बारूद का सा काम करती है जो सामने पड़े घने पर्दे में सहसा अंतराल बना देता है। हमें उस पार की भी सूझ जाती है, उनका काम विद्युत् के समान अचानक एवं तत्क्षण प्रभावित कर देना है। इन युक्तियों का रूप संभवतः वैसा ही है जैसा संतों द्वारा बतलाये गए सद्गुरु के 'सबदों' का हुआ करता है और जिसकी ओर कबीर साहब आदि सभी की रचनाओं में संकेत भी किया गया है।

जापान के उक्त उक्त जोदो अथवा जोदोशिन और ज़ेन दो ऐसे सप्रदाय हैं जिनमें उनके बौद्ध धर्म की शाखा होने पर भी कतिपय अपनी विशेषताएँ है। उनका उस देश में बहुत अधिक प्रचार है और इसी कारण, उन्हें बहुत मत्त्व भी दिया जाता है। किंतु इन दोनों से भी अधिक विशेषताओं वाला वहाँ एक तीसरा मत प्रचलित है जिसे, उसके प्रवर्तक के नाम पर, निचिरेन सप्रदाय की संज्ञा दी जाती है। यह संप्रदाय एक ऐसे समय में स्थापित हुआ था जब जापान की क्योटो सरकार से संबधित व्यक्तियों को पारस्परिक कलह के कारण किंचित् भी अवकाश नहीं मिलता था और जिस समय उनके ऐसे संघर्षमय जीवन में बौद्ध मठों के भिक्खु भी उनके साथ सहयोग करने लग गये थे और अधिकाधिक प्रपंच ग्रस्त बनते जा रहे थे। निचिरेन (सन् १२२२-८२ ईसवी) एक साधारण मलाह का पुत्र था, किंतु कुशाग्र बुद्धि वाला भी था। उसने परिस्थिति को भलीभाँति पहचाना और सारे

[1] क्रिसमस हम्फ्रीज : बुद्धिज़्म, पृ० १८२

प्रचलित बौद्ध संप्रदायों के सिद्धांतों का सम्यक् रूप से अध्ययन करके उसने तत्कालीन स्थिति का सुधार करने के उद्देश्य से एक नवीन मार्ग निकाला। उसमें विचित्र धार्मिक उत्साह भरा था और वह सभी संप्रदायो की आलोचना करने पर तुला था। इसलिए कर्मचारियों ने उसे दंडित करना चाहा, किंतु प्रत्येक बार वह किसी न किसी प्रकार अपने को बचाता चला गया, जिससे उसमें चमत्कार का आरोप होने लगा। उसने अपने उपदेशों का आधार 'सद्धर्मपुंडरीक' को बनाया और प्रचलित 'पवित्र धाम' परक सिद्धांतो के विरुद्ध इहलोक की ही महत्ता का प्रतिपादन किया। निचिरेन सप्रदाय के अनुसार ऐहिक कार्यों के ही द्वारा हम आत्यंतिक सुख के भी अधिकारी बन सकते हैं। हमें किसी काल्पनिक स्वर्गभूमि के अस्तित्व में विश्वास कर किसी प्रकार की साधना करने की कोई आवश्कता नहीं। हमे स्वार्थ त्याग, आत्मोत्सर्ग, देशभक्ति, जैसे ऐहलौकिक उदात्त भावों के साथ कार्य में निरत रहना चाहिये, जिससे प्रत्यक्ष कल्याण की संभावना है। इस सप्रदाय की सबसे प्रमुख विशेषता यह थी कि इसका मूलस्रोत चीन अथवा कोरिया जैसे किन्हीं अन्य देशों से संबंधित नहीं था।

तिब्बत मे बौद्ध धर्म का प्रवेश, सर्वप्रथम, उस समय हुआ था जब ईसा की पाँचवीं शताब्दी में वहाँ भारत से कुछ ऐसी पुस्तकें पहुँची थीं। किंतु इस बात का उन दिनों वैसा प्रभाव नहीं पड़ा और, वास्तव में, उनकी उपेक्षा कर दी गयी। इस देश में बौद्ध धर्म की जड़ जमाने का श्रेय, इसी कारण, यहाँ के राजा सोंगचिन् गपो को दिया जाता है जिनका जन्म सन् ५५७ में हुआ था। इस प्रतापी नरेश ने अपनी विजय के साथ-साथ चीन एवं नेपाल, दोनों देशों की ओर से दो राजकुमारियों का भी पाणिग्रहण किया। उस समय तक नेपाल एवं चीन में बौद्धधर्म भलीभाँति फैल चुका था और उसका प्रभाव वहाँ के राजघरानों पर भी कम नहीं था। फलतः दोनों रानियो ने राजा को प्रभावित करके उन्हें बौद्ध धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य किया और तदुपरांत, वे इसके प्रचार-

कार्य में भी कटिबद्ध हो गये। किंतु सोंगच्चिन् गंपो ने जिस बौद्धधर्म को अपनाया, वह वस्तुतः तांत्रिक बौद्धधर्म था जिसमें योगसाधना एवं शैवतंत्र का पूर्ण संमिश्रण था। इसे बौद्धधर्म कहने का प्रमुख कारण यह था। कि इसमें असंग एवं वसुबंधु द्वारा प्रचारित योगाचार को विशेष महत्व दिया गया था। इन तीनों के समन्वय द्वारा इसने एक विचित्र रूप धारण कर लिया और तिब्बत के, उस समय प्रचलित, बोन धर्म ने इसे और भी विकृत कर दिया। यह बोन धर्म उस देश में तंत्र, मंत्र, टोना, जादू आदि का भी समर्थन करता था, जिनका बौद्धधर्म में प्रवेश होते अधिक विलंब नहीं लगा और इसको क्रमशः वह मार्ग स्वीकार करना पड़ गया जिसे आजतक लामा धर्म कहा जाता है।

तिब्बत के देश, नेपाल, भूटान, सिक्किम, लद्दाख और मंगोलिया के कुछ प्रदेशो तक में तीन प्रकार के बौद्ध दर्शन प्रचलित हैं। इनमे से एक तो नागार्जुन के प्रसिद्ध माध्यमिक शास्त्र पर आश्रित है और इसे तिब्बत में 'उमापा' का नाम दिया गया है और दूसरे को 'महामुद्रा' कहते हैं। इस महामुद्रा को तिब्बत में 'फ्याग चेन' भी कहा जाता है। इसी प्रकार, तीसरे दर्शन 'आदियोग' को वहाँ 'जोग् सचेन' का नाम दिया गया है। 'उमापा' के अनुयायियों को 'गेलुग्पा' कहा जाता है और वे पीली टोपी धारण करते हैं। इसे मान्यता देने वाले संप्रदाय का प्रवर्तक सोगखापा (सन्-१३५८-१४१७) थे और यही उत्तरी तिब्बत के दलाईलामा का भी अपना धर्म है। 'महामुद्रा' के अनुयायियो को 'कार्ग्युत्पा' कहते हैं। इनका सर्वप्रमुख आचार्य मिलारेपा समझा जाता है। इसी प्रकार आदियोग वाले 'निंगमापा' कहलाते हैं और ये लाल टोपी धारण किया करते हैं। इनके सर्वश्रेष्ठ आचार्य का नाम पद्मसंभव है जो तिब्बत में नालंद से आये थे। इन्हें तिब्बत के राजा ने अपने यहाँ स्वयं निमंत्रित किया था। इन्होंने उसी के अनुरोध से वहाँ उक्त धर्म की स्थापना सन् ७४९ में की थी। इन तीनों के अतिरिक्त एक चौथे मत अर्थात् 'सक्यपा' का भी नाम लिया जाता है। किंतु यह

वस्तुतः आदियोग वालों का ही एक उपसंप्रदाय है। उक्त तीनों वा चारों का न्यूनाधिक संबंध बौद्ध धर्म के साथ जुड़ा हुआ है और वे आजकल भी उसकी शाखाओं के रूप में प्रचलित हैं। परंतु बोन धर्म जो इस देश में इन सभी के पहले से प्रचलित है बौद्धधर्म का वास्तविक अंग नहीं माना जा सकता। इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिनका प्रभाव तिब्बतीय बौद्ध धर्म पर भी पड़ गया है। बोन धर्म के अनुयायी काली टोपी धारण करते हैं।[1]

पद्मसंभव का आदियोग प्राचीन भारतीय साधनाओं का पूर्ण समर्थक है जहाँ उमापा के अनुयायी उनमें सुधारों के भी पक्षपाती हैं। परंतु महामुद्रा वाले इन दोनों के बीच का मार्ग अवलंबन करते हैं और अपनी कुछ विशेषताएँ भी रखते हैं। पद्मसंभव ने जिस समय अपने आदि-योग का प्रचार आरंभ किया उस समय बोन धर्म वालों की ओर से उनका बहुत विरोध हुआ। तिब्बत में बौद्धधर्म अपने स्थायी रूप में उस समय से प्रचलित हुआ, जब वहाँ भारत से एक अन्य बौद्ध पंडित भी पहुँच गये जिनका नाम अतिश था। इन्होंने ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में वहाँ पहुँच कर लामाओं के गेलुग्पा वाले मत की स्थापना कर दी, जिसका वहां पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उस काल के दो अन्य महापुरुषों के भी कारण वहाँ बौद्ध धर्म को पूरा सहयोग मिला जिनमें से मिलारेपा का नाम पहले से ही आ चुका है। दूसरे का नाम 'मारपा' था जो मिलेरपा के गुरु थे और जिनकी प्रेरणा द्वारा ही काग्युत्पा लोगों के संप्रदाय की स्थापना हुई थी। इनके शिष्य मिला-रेपा एक अत्यंत प्रभावशाली धर्म प्रचारक हुए। उन्होंने अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से वहाँ के धार्मिक समाज में नवीन स्फूर्ति ला दी। ये सन् १०३८ ईसवी में उत्पन्न हुए थे और सदा एक मात्र रुई का कपड़ा पहना करते थे। ये अपनी योगसिद्धियों के लिए भी बहुत प्रसिद्ध थे। इनके द्वारा प्रवर्तित

---

[1] डब्ल्यू० वाई० इवांस वेंत्स : तिब्बत ग्रेट योगी मिलारेपा, पृ० ४६

संप्रदाय का मूल मंत्रंध भारतीय कुसूलिया की योगसाधना से था, जिसके एक प्रमुख आचार्य सिद्ध तेलोपा थे। सिद्ध तेलोपा, दसवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध के आस-पास, वर्तमान थे और प्रसिद्ध है कि उन्हे स्वर्गीय बुद्ध वा वज्रधर से महामुद्रा दर्शन की शिक्षा मिली थी, जिसे उन्होंने काग्युत्पा लोगों के लिए आधारशिला के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। सिद्धतेलोपा से यह मत सर्वप्रथम सिद्ध नारोपा को मिला था, जिनसे यह फिर क्रमशः मारपा एवं मिलारेपा तक पहुँच गया[1] तेलोपा और नारोपा ८४ सिद्धों में भी गिने जाते हैं।

अतिश द्वारा प्रचारित मत को विकसित रूप देने का श्रेय सोंग का पा को दिया जाता है जिनका समय सन् १३५८ से १४१६ तक है और जिनके लिए प्रसिद्ध है कि वे पश्चिमोत्तर चीन के अमदो प्रांत के किसी 'प्याज की भूमि' से तिब्बत की ओर आये थे। उन्होंने अतिश के अनुयायियों को फिर से संगठित करके उन्हें थेरवाद के विनय की भी शिक्षा दी और उन्हें पीली टोपी का चिह्न प्रदान किया। लामाओं की परंपरा में सोग का या वड़ी उच्च श्रेणी के समझे जाते हैं और पीले टोपी वाले उन्हें स्वयं गौतमबुद्ध के अनंतर दूसरा स्थान देते हैं। इस महा पुरुष ने तिब्बत मैं बौद्ध धर्म की बहुत बड़ी धाक जमा दी। इनके द्वारा प्रचलित एवं प्रचारित संप्रदाय ने वहाँ अत्यंत लोक प्रिय रूप ले लिया। बौद्ध धर्म मंगोल देश मे, ईसवी सन् की तेरहवीं शताब्दी में, पहुँचा और कुवलये खाँ के धर्म गुरु ड्रोगोन ने वहाँ की प्रकृति पूजा के विधानों में आवश्यक सुधारों का समावेश करके इसे बौद्ध धर्म के एक विशिष्ट संप्रदाय का रूप दे दिया। मंगोल सम्राटों को प्रेरणा द्वारा बहुत से बौद्ध धर्म सबधी महत्त्व पूर्ण ग्रंथों का अनुवाद वहाँ की भाषा में किया गया और उनकी पोथियों को सुंदर कलात्मक ढग से सजाया गया।

---

[1] डब्ल्यू॰ वार्ड इवांस वेंत्स : तिब्बत्स ग्रेट योगी मिलारेपा, पृ॰ ८

मंगोल देश के निवासी कोकोनोर क्षेत्र एवं लासा नगर की तीर्थ यात्रा करने के लिए बड़ी से बड़ी संख्या में आने लग गये। मंगोल देश में भी लामाओं की वही प्रतिष्ठा है जो तिब्बत में है और जिस प्रकार तिब्बत के लामा धर्म का केंद्र लासा है उसी प्रकार मंगोल देश वाले का उर्गा है।

इस प्रकार तिब्बत में बौद्ध धर्म के, गेलुगपा, कार्ग्युत्पा, शाक्यपा, निगमापा तथा बोनपा का उससे प्रभावित रूप, में ही पाँच प्रमुख संप्रदाय हैं। प्रायः इनमें से किन्हीं की बाह्य साधनाओं में विशेष अंतर नहीं और उन पर तांत्रिक मत का भी स्पष्ट प्रभाव पड़ चुका है। किंतु जहाँ तक भीतरी और योग-संबंधी साधनाओं का संबंध है, उनके विचार से इनमें विभिन्न स्तर कहे जा सकते हैं। तिब्बत प्रदेश वह विचित्र स्थल है जहाँ पर अन्य धर्मों के भी साधक, शांतिपूर्वक एकांत साधना करने के उद्देश्य से जाते रहे। उसे, इसी कारण, कभी-कभी 'महात्माओं का देश' भी कहा गया है स्वयं तिब्बती लामाओं में भी बहुत से ऐसे सिद्ध हो चुके हैं, जिनकी सफल साधनाओं तथा चमत्कारों की दंत कथाएँ बन गयी है। किंतु, उसी प्रकार, इस देश में अनेक ऐसे तांत्रिक, इंद्रजाली, टोटका विधायक और पाखंडी भी मिलेंगे जिनकी रहस्य पूर्ण प्रक्रियाओं का कोई अंत नहीं। बौद्ध धर्म का महायानी रूप भी यहाँ पर इतना परिवर्तित हो गया है कि इसे 'लामा' धर्म की एक विशिष्ट संज्ञा ही दी जाने लगी है। इसके जो जो रूप लद्दाख, मंगोल देश, भूटान, सिक्किम एवं नेपाल में पाये जाते हैं, उनमें कोई मौलिक अंतर नहीं है। केवल नेपाल के संबंध में कहा जा सकता है कि वहाँ पर इसे शैव संप्रदाय द्वारा बहुत अधिक प्रभावित हो जाना पड़ा है। इसके सिवाय, लगभग सौ वर्षों के इधर वहाँ पर हीनयानी थेरवाद का भी कुछ प्रचार हुआ है, यद्यपि उसका प्रभाव अभी तक उतना स्पष्ट नहीं दीख पड़ता। तिब्बत के लामा भी अपने पदाधिकारों की दृष्टि से या तो दलाई लामा होते हैं अथवा वे ताशी लामा कहलाते है। इनमें से दलाई लामा वस्तुतः ईश्वरीय

राजा के पद पर आसीन समझे जाते हैं। वे सत्रहवीं शताब्दी में निर्मित प्रसिद्ध 'पोताला' मंदिर में निवास करते हैं। ताशी लामा का कोई राजनीतिक महत्व नहीं है, किंतु, स्वयं अमिताभ के अवतार रूप में वर्तमान समझे जाने के कारण, उनके प्रति धर्मप्राण बौद्धों की श्रद्धा किसी प्रकार कम नहीं रहा करती।

तिब्बत देश के बौद्ध पंडितों में अनेक अद्वितीय विद्वता वाले महापुरुष हुए हैं और उन्होंने वहाँ इस धर्म का प्रचार बड़ी लगन से किया है। इनमें से रिन्-छेन्-ग्रुव, चोङ्खप एवं लामा तारानाथ के नाम विशेष रूप से लिये जाते हैं। रिन्-छेन्-ग्रुव सन् १२९० से १३६४ ईसवी तक वर्तमान थे और उन्होंने ऐसे पचासों ग्रंथों की रचना की जिनके द्वारा बौद्ध धर्म के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसके सिवाय उन्होंने दो ऐसे ग्रंथ-संग्रहालयों की भी स्थापना की जिनमें इस विषय की अमूल्य पुस्तकें आज तक सुरक्षित चली आ रही हैं। इन संग्रहो मे से एक का नाम 'स्कग्युर' वा कंजुर है जिसमें महात्मा गौतम बुद्ध के वचनों अर्थात् मूल उपदेशों का संग्रह किया गया है। इसीप्रकार, इसके स्तनग्युर वा तंजुर नामक दूसरे संग्रह में ऐसे ग्रंथ संगृहीत है जो दर्शन काव्य, ज्योतिष, एवं तंत्र-मंत्र जैसे विषयों से भी सवध रखते हैं। चोङ्खप नामक बौद्ध भिक्षु ने, इसीप्रकार, सर्वत्र भ्रमण कर तथा बौद्धों के लिए महाविहार एवं महाविद्यालयादि की स्थापना कर बौद्ध धर्म का प्रचार किया। ये सन् १३५७ से लेकर सन् १४१९ ईसवी तक वर्तमान थे। उन्होंने न केवल दार्शनिक सिद्धांतों का प्रचार किया, अपितु बौद्धों का पूरा संगठन भी किया। उन्होंने अपनी परपरा में केवल ऐसे ही उत्तराधिकारियों के चुने जाने की व्यवस्था कर दी जो वास्तव में योग्य हो। लामा तारानाथ का जन्म सन् १३७५ में हुआ था और वे जितने गंभीर विद्वान नहीं थे उतने वहुश्रुत थे। इन्होंने बौद्ध धर्म के इतिहास पर महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखा। इनकी ऐतिहासिक रचनाओं मे दंत कथाओं एवं अनुश्रुतियों से ही अधिक सहायता ली गयी है और उनमें

चमत्कारों की भी भरमार है। परंतु, उनके समय में यहाँ इससे अधिक कर पाने की आशा भी नहीं की जा सकती थी।

एक अनुश्रुति के अनुसार खोतान राज्य की स्थापना, सर्वप्रथम, सम्राट् अशोक के वहाँ आगमन के उपलक्ष में हुई थी। उसी अवसर पर उन्हें किसी एक पुत्र की प्राप्ति भी हुई जिसका नाम 'कुस्तन' रखा गया था और इस शब्द का अर्थ 'पृथ्वी का स्तन' भी बतलाया जाता है। किंतु इन बातों के लिए कोई ऐतिहासिक आधार भी उपलब्ध नहीं है और एक अन्य स्रोत के अनुसार, अनुमान किया जाता है कि इसकी स्थापना, किसी वुलर झील (काश्मीर) के निकटवर्त्ती क्षेत्र के नाग महायुद्ध द्वारा हुई होगी। नाग महायुद्ध का नाम हुलूर अथवा हूलर भी था और उसे, सम्राट् अशोक के पहले ही, किसी बौद्ध धर्म प्रचारक के प्रभाव में आ जाना पड़ा था। इस काश्मीरी बौद्ध हूलर के नाम पर खोतान मे एक सांप्रदायिक वर्ग के भी प्रतिष्ठित हो जाने का पता चलता है जो उसके समय से पीछे की भी घटना हो सकती है। खोतान की कतिपय किंवदंतियाँ के अनुसार वहाँ बौद्ध धर्म का प्रवेश, ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी के पहले, नहीं हुआ होगा। फ़ाहियन, जो इस देश की ओर ईसवी सन् की चौथी शताब्दी के अंत में आया था, बतलाता है कि वहाँ लगभग ४००० हीनयानी बौद्ध वर्तमान थे और वे लोग भारतीय भापा का भी व्यवहार करते थे। बौद्ध धर्म का प्रचार, सर्वप्रथम, वहाँ किसी वैरोचन नामक श्रमण द्वारा, आरंभ किया गया था जिसने वहाँ कई मठ भी स्थापित कराये थे। फ़ाहियान के समय तक वहाँ बहुत से महायानी बौद्ध भी पाये जाने लगे होंगे। 'गोशृंग महात्मा' के आधार पर कहा जाता है कि आठवीं वा नवीं शताब्दी तक "महायानियों की सख्या जहाँ किसी घोड़े के सारे शरीर के बालों जितनी थी वहाँ अन्य सभी धर्मों के अनुयायी उस पशु के केवल कानों के ही बालों की संख्या में गिने जा सकते थे।" गोशृंग-महात्म्य वहाँ के एक तीर्थ-स्थान के विषय में लिखा गया था और इसे 'गोशृंग-व्याकरण' का

नाम दिया गया था जिसकी भाषा संस्कृत थी। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रंथ खोतानी भाषा मे भी थे।[1]

भारत के पश्चिमवाले देशों में भी बौद्ध धम का प्रवेश लगभग उसी समय हुआ होगा जब वह खोतान में फैलने लगा था। सम्राट् अशोक ने कुछ दूर तक वहाँ अपने शिला-लेखों की व्यवस्था की थी और अन्यत्र बहुत से धर्म प्रचारकों को भी भेजा था। फलतः अफ़गानिस्तान तथा उसके उत्तर के कुछ भूखंडों में हमें अभी आज तक बहुत से बौद्ध अवशेष मिलते हैं। इन प्रदेशों में अनेक ऐसे स्थान हैं जिनके नाम तक हमें उन पर पड़े पुराने बौद्ध प्रभाव का स्मरण दिलाते हैं। उनमें केवल न्यूनाधिक परिवर्तन मात्र हो गया है। इसके सिवाय वहाँ की विविध कलाएँ भी, जिनका प्रादुर्भाव, उन देशों पर बौद्ध प्रभाव के पड़ने पर हुआ था, इस बात की साक्षी कही जा सकती है।[2] इस्लाम धर्म का उधर प्रचार हो जाने पर जिस समय उसके सूफ़ी संप्रदाय का भी वहाँ प्रवेश हुआ, उस समय तक बौद्ध धर्म वहाँ लुप्त नहीं हो गया था। बहुत से इसके अनुयायी दमन चक्रों से अपने प्राण बचा कर कहीं न कहीं लुके छिपे रहा करते थे। ऐसा ही एक परिवार उन बरमकों का था जिनका प्रवेश, किसी न किसी प्रकार, खलीफ़ा हारूँ रशीद के दर्बार में होगया था। 'बरमक' शब्द अरबी मे भारतीय 'परमक' के स्थान पर व्यवहृत होता है। कहा जाता है कि प्रयोग बौद्ध बिहारों

---

[1] एफ़० डब्ल्यू० टामस : इंडियनिज़्म ऐंड इट्स एक्सपैंशन, पृ० ५८-६६

[2] डा० स्टेन का कहना है कि फ़ारस के सीस्तान प्रांत के हेलमंद नामक कच्छ प्रदेशों में उन्हें एक ऐसा बौद्ध मठ मिला था जिसमें सुरक्षित चित्रों से यूनानी एवं बौद्ध कलाओं के उस मिश्रित रूप का पता चलता था जो भारत के पश्चिमोत्तर छोर से लेकर मध्य एशिया तथा सुदूर पूर्व को एक सूत्र में बाँध देता है। हिंदुइज़्म ऐंड बुद्धिज़्म, पृ० ११६

के महापुरुष के लिए हुआ करता था।[1] बरमकों के कारण, उस दर्बार में, धर्म, संस्कृति एवं साहित्य के प्रति विशेष आकर्षण उत्पन्न होगया था। बौद्ध धर्म का प्रभाव स्वयं सूफ़ी संप्रदाय के सिद्धांतों एवं साधनाओं पर भी कम नहीं पड़ा और इस बात को इसके कई उन उपसंप्रदायों की विशेपताओं द्वारा भी प्रमाणित किया जा सकता है जो पुराने बौद्ध क्षेत्रों में आकर स्थापित किये गये थे। बौद्धों के ध्यान योग, उनकी गुरु शिष्य परंपरा, उनकी मठ-व्यवस्था, आचार्यों के संयत जीवन प्रचार-पद्धति एवं अन्य कई ऐसी छोटी-मोटी बातों के लिए भी सूफ़ी लोग उनके ऋणी कहे जा सकते हैं।

प्राचीन समय में भारत से सुदूर पश्चिम की ओर सीरिया, मिश्र एवं यूनान तथा सुदूर दक्षिणपूर्व की ओर सुमात्रा, जावा आदि द्वीपों तक बौद्ध धर्म के किसी न किसी प्रकार पहुँचने एवं प्रचलित होने का पता चलता है, किंतु इनके विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं। फ़ाहियान को सन् ४१८ ईसवी में जावा द्वीप के अंतर्गत, एक भी बौद्ध नहीं मिला था, किंतु पीछे के उल्लेखों में वहाँ भारतीय महायान का होना सिद्ध है। सन् ७७८ ईसवी के कलसन वाले नागरी शिला-लेख में महायान संप्रदाय के एक मठ एवं तारा के एक मंदिर की भी चर्चा पायी जाती है। वहाँ का सर्वप्रथम स्मारक चिह्न जो प्रम्बनन मे वर्तमान है वह भी उक्त तारा के ही लिए निर्मित है। जावाद्वीप मे महायान सबधी प्रचार-साहित्य की भी कमी नहीं वहाँ वाले इस सम्प्रदाय की एक यह विशेपता है कि ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक यह वहाँ के प्रचलित हिंदूधर्म के साथ बहुत कुछ हिल मिल जाता है। वहाँ पर बुद्ध एवं शिव लगभग एक से बन जाते हैं और उनके एक विचित्र संमिलित रूप का विकास होने लगता है। ईत्सिंग (सन् ६८८-६५) के अनुसार उधर के अन्य कई द्वीपों में 'मूलसर्वास्तिवाद' का प्रचार अधिक था और "मलयु के अतिरिक्त अन्यत्र" हीनयान ही

[1] जे० ए० सुभान : सूफ़ीज़्म इट्स सेंट्स एंड श्राइंस, पृ० १२२

प्रचलित था[1] जान पड़ता है कि पीछे के मुस्लिम प्रभाव से इन देशों के बौद्ध अवशेषों को नष्ट हो जाने में पूरी सहायता की। पश्चिम के इस्लामी देशों में बौद्ध धर्म एवं संस्कृति को निर्मूल करने में कुछ अधिक सजगता प्रदर्शित की गयी और बौद्ध मूर्तियों एवं विहारों का ध्वस कर देना कर्त्तव्य-सा बन गया। गौतम बुद्ध की मूर्तियों के ही नाम पर 'बुद्ध' शब्द से 'बुत' का निर्माण हो गया जो कुछ सभी प्रकार की प्रतिमाओं के लिए प्रयोग में आने लगा। अनेक मुस्लिम सुलतान अपनी 'बुतशिकनी' अथवा मूर्ति ध्वंस के कारण अपने सहधर्मियो में विख्यात हो गये। बौद्ध धर्म को अपनी अस्तित्त्व सुरक्षित रखने मे कई अवसरों पर ईसाई धर्म का भी सामना करना पड़ा, किंतु इससे उसे अधिक क्षति नहीं पहुँची। ईसाई देशों मे वह केवल, इसी कारण, न प्रचलित हो सका कि उसे वहाॅ चीन, तिब्बत आदि देशों की भाॅति अच्छे प्रचारक नहीं मिल सके। भारतीय बौद्ध शासको अथवा पंडितों का उधार संपर्क भी नहीं रहा और न बौद्ध यात्रियो का आना-जाना ही उस प्रकार लग सका। आधुनिक युग मे जब आवागमन की विशेष सुविधाएँ हो गयीं हैं और प्रचार के साधन भी बढ़ गये हैं स्थिति बहुत कुछ सुधर गयी है। एशिया के दक्षिणी बौद्ध देशों से जहाँ इस धर्म के प्रचारक पश्चिम की ओर जाने लगे हैं वहाॅ जापान तथा चीन से यह प्रशात सागर के पार भी बढ़ जाना चाहता है।

एशिया के देशो मे से कदाचित्, चीन ही ऐसा है जहाॅ बौद्ध धर्म केवल जीवित मात्र है, प्रगतिशील नहीं है; अन्यथा अन्य सब कहीं इसमें नव विकास के लक्षण दीख पड़ते हैं और वहाँ के बौद्ध इसे नूतन वातावरण के अनुरूप सुव्यवस्थित करने में प्रयत्नशील हैं। चीन में इस समय कम्यूनिस्ट राज्य है जिसे धर्मेतर विषयों के ही प्रति अधिक रुचि है और वह, अपने किसी भी पूर्व परिचित धर्म की ओर से प्रायः उदासीन है। जापान में, चीन की अपेक्षा, बौद्ध धर्म अधिक ध्यान आकृष्ट

---

[1] सर चार्ल्स इलियट : हिंदुइज्म ऐंड बुद्धिज्म, पृ० १७६-७

करता है। वहाँ के निवासी इसके सामने अमेरिका मिशनों तक की उपेक्षा कर रहे हैं। हिंद चीन को तथा कोरिया को भी अपने यहाँ के आपसी युद्धों से ही अवकाश नहीं है और इन देशों की धार्मिक स्थिति डाँवाडोल कही जा सकती है। किंतु श्याम के निवासियों में बौद्ध धर्म के प्रति विशेष निष्ठा दीख पड़ती है और वे अपने यहाँ से धर्म-प्रचारकों तक के भेजने का प्रबंध किया करते हैं। लंकाद्वीप में ईसाई धर्म ने इधर बहुत प्रगति कर ली थी, किंतु सिंहली जनता अपने इस पुराने धर्म के प्रति अब अधिक जागरूक हो उठी है। बर्मा में कम्यूनिस्ट आक्रमणों के होते रहने तथा विभिन्न प्रांतों अथवा जातियों के लड़ते-भिड़ते रहने से भी कुछ अव्यवस्था अवश्य आ गयी है। फिर भी वहाँ की साधारण जनता लंकाद्वीप वाले लोगों की ही भाँति, बौद्ध धर्मी हैं और इस ओर किसी प्रत्यक्ष परिवर्तन की आशंका नहीं है। भारतवर्ष, इस धर्म को जन्मभूमि होता हुआ भी, लगभग ग्यारहवीं शताब्दी से, इसका बहिष्कार कर चुका था। परंतु, प्रसिद्ध सिंहली बौद्ध विद्वान अनागरिक धर्मपाल जैसे एकांत-निष्ठ साधकों के प्रयत्नों द्वारा, इसे भी उसके पुनरुत्थान की चिंता हो गयी है। अनागरिक धर्मपाल की 'महाबोधि सोसायटी' ने यहाँ पर बहुत कुछ काम किया है और उसने इसके पड़ोसी नेपाल राज्य तक में प्रचार कार्य को आगे बढ़ाया है। इधर केवल तिब्बत और मंगोलिया ही ऐसे दो बौद्ध देश हैं जहाँ किसी विशेष परिवर्तन का स्पष्ट पता नहीं चलता। एशिया तथा इंदोनेशिया के मुस्लिम राज्यों के अंतर्गत बौद्ध धर्म बहुत अधिक दब चुका है और सोवियत के अंग बने प्रदेशों में भी इसकी जाग्रति के वैसे लक्षण नहीं दीख पड़ते।

इस बात के लिए निश्चित प्रमाणों का अभाव है कि बौद्ध धर्म ने पाश्चात्य देशो मे ठीक किस समय और किस प्रकार प्रवेश किया था। केवल इतना पता चलता है कि इसके धर्म ग्रंथों का अनुवाद यूरोपीय भाषाओं में बहुत दिनों से होता आ रहा है। बुर्नो, हाग्सन, राकहिल, ओल्डनबर्ग, बील, माक्समूलर एवं राइसस आदि डेविड् कतिपय ऐसे

विद्वान थे, जिन्होंने इसकी ओर विशेष ध्यान दिया। इनके सतत प्रयासों द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक, यह धर्म उच्च वर्ग के लोगों के अध्ययन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण विषय बन गया। फिर बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दिनों से इसके धार्मिक रूप को अपनाने की भी प्रवृत्ति जगने लगी। जैक्सन एवं पेन जैसे अंग्रेजों ने इसके लिए अपना प्रचार-कार्य आरंभ किया तथा जे० एफ० केचनी ने स्वयं 'भिक्खु शीलाचार' बन कर इसके प्रसार का आंदोलन चलाया। ऐसे लोगों ने, इस धर्म को सब के लिए परिचित बनाने के उद्देश्य से कई संस्थाएँ खोली। पुस्तकें लिखीं और पत्रादि का भी प्रकाशन किया और इनके इन प्रयत्नों में बाहर की बौद्ध सोसायटियों तथा अन्य प्रकार की प्रचार-सभाओं का भी सहयोग प्राप्त होने लगा। इस प्रचार-कार्य में थियोसोफिकल सोसायटी का भी कम हाथ नहीं रहा और उसकी प्रसिद्ध उन्नायिका मैडेम ब्लैवेड्स्की ने इसकी कुछ तिब्बतीय साधनाओं का स्वयं अभ्यास भी किया। उन देशों में फिर क्रमशः विपुल बौद्ध साहित्य की रचना होती चली गयी और वहाँ के बहुत से लोगों ने बौद्ध धर्म को अपना पथ-प्रदर्शक भी बना लिया।

फ्रांस देश में प्रचलित होने वाले बौद्ध धर्म की एक यह विशेपता थी कि वहाँ पर यह केवल मध्यवर्गीय लोगों तक ही सीमित नहीं रहा। वहाँ के उच्चकोटि वाले अत्यंत प्रसिद्ध व्यक्तियों ने भी इसके प्रचार-कार्य में भाग लिया और उन्होंने इंदोचीन के थेरवाद के साथ अपना विशेष संबंध रखा। इसी प्रकार वहाँ के कतिपय विद्वानों ने तिब्बतीय बौद्ध धर्म के अध्ययन की ओर भी कम ध्यान नहीं दिया। जर्मनी में बौद्ध धर्म का अधिक प्रचार प्रथम महायुद्ध के अनंतर ही हो सका और डाक्टर पाल डाहल्के ने वहाँ के बर्लिन नगर में एक बौद्ध बिहार की भी स्थापना की। इसी प्रकार, संभवतः युद्धों की प्रतिक्रिया के ही रूप मे, हालैंड, बेलजियम, फिनलैंड, स्वीडेन एवं स्विट्ज़रलैंड में भी बौद्ध धर्म के अनुयायियों की संख्या बढ़ी। संयुक्त राज्य (अमेरिका) मे इसका प्रचार पहले, उस देश के पश्चिमी तटवर्ती जापानियों के कारण आरंभ हुआ। फलतः यूरोपीय

देशों के बौद्ध धर्म का रूप जहाँ अधिकतर हीनयानी रहा, वहाँ अमेरिका में वह विशेषतः महायानी वेश में दीख पड़ा। वहाँ उसके उन अंगों का ही अधिक प्रचार हुआ जो महायान के जोदो एवं जेन सप्रदायों के प्रमुख सिद्धांतों एवं साधनाओं पर आधारित हैं। पाश्चात्य देशों में प्रचलित होने वाले आधुनिक बौद्ध धर्म का रूप, वास्तव में, न तो विशुद्ध हीनयानी हैं और न वह केवल महायान पर ही आश्रित है। प्रामाणिक प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन तथा उनके आलोचनात्मक अनुशीलन के आधार पर उसके मौलिक सिद्धांतों पर गंभीर विचार किया जा रहा है। इसके परिणाम स्वरूप, कुछ ऐसे व्यापक नियम निर्धारित किये जा रहे हैं, जिनसे विश्वकल्याण, सर्वथा आधुनिक दृष्टि से भी, संभव जान पड़े। कुछ ऐसे ही विचारों से प्रेरित होकर थियोसोफिकल सोसायटी के प्रेसिडेंट कर्नल अलकॉट ने, सन् १८६१ ईसवी में, ऐसे १४ नियम बनाये थे जो बौद्ध धर्म के प्रत्येक संप्रदाय अथवा उपसंप्रदाय को भी मान्य हो सकें और जिन्हें बहुत से बौद्ध देशों ने पसंद भी किया था। फिर सन् १६४५ ईसवी में क्रिसमस हम्फ्रीज़ ने, लंदन की 'बुद्धिस्ट सोसायटी' के आग्रह पर, १२ ऐसे ही नियमों की एक पृथक् सूची तैयार की। हम्फ्रीज़ का तो यहाँ तक विश्वास है कि, इस प्रकार, भविष्य में एक ऐसे 'नवयान' का उदय होने जा रहा है जिसमें सभी विचार-स्रोतों का समन्वय हो जायगा।[१]